विवेक-ज्योति

वर्ष ४२ अंक ११ नवम्बर २००४ मूल्य रु. ६.००

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर २००४

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४२
अंक ११

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी सलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित सशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

एको रागिषु राजते प्रियतमा-देहार्धधारी हरो
नीरागेषु जनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात् परः ।
दुर्वार-स्मरबाण-पन्नगविष-व्याविद्ध-मुग्धो जनः
शेषः कामविडम्बितान्न विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः ॥१७॥

अर्थ – अनुरागी प्रेमियों में महादेव अतुलनीय रूप से विराज रहे हैं, जिन्होंने अपनी प्रियतमा का आधा शरीर अपने अंग में धारण कर लिया है और दूसरी ओर स्त्रीसंग-परित्यागी विरागियों में भी उनके समान अन्य कोई नहीं है। बाकी सामान्य मायामुग्ध जन तो दुर्दम्य कामदेव के सर्पविषयुक्त बाण से आहत होकर उपलब्ध विषयों का न तो भोग कर पाते हैं और न त्याग ही। यही काम की विडम्बना है।

अजानन् दाहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद् वडिशयुतमश्नातु पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जाल-जटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥१८॥

अर्थ – अग्नि की दहन-शक्ति को न जानता हुआ पतिंगा प्रज्वलित अग्नि में जा पड़ता है, मछली भी अज्ञानवश लोहे के कटिये से युक्त मांस को निगल जाती है; परन्तु इस संसार में हम मनुष्य ही ऐसे हैं, जो कि जटिल अनर्थों के जाल-रूप विषय-भोगों को विनाश का कारण जानकर भी, उनका त्याग नहीं करते। अहो! अज्ञान की महिमा कितनी गहन है!

– भर्तृहरि

भजन-गीति

– १ –

(कलिंगड़ा या जोगिया – कहरवा)

चेत मन, अब भी थोड़ा चेत ।
काल-चिरैया चुगे रात-दिन, तेरा जीवन-खेत ।।

मानव-तन अति दुर्लभ जग में, पहन न माया-बेड़ी पग में ।
बड़े पुण्य के बाद मिला जो, गया सेत-ही-मेत ।। काल ...

चित को भाव-भक्ति से भर ले, प्रभु की भजन-साधना कर ले ।
उनको पाकर ही जीवन का, पूरा होगा हेत ।। काल ...

डेरा लगा यहाँ दो दिन का, जोड़ न घास-फूस औ तिनका ।
अब 'विदेह' फिरना है तुमको, प्रभु के परम निकेत ।। काल...

– २ –

(जोगिया या कलिंगड़ा – कहरवा)

साधो, मन की आँखें खोल ।
प्रभु बैठे अन्तर में तेरे, इधर-उधर न टटोल ।।

राग-द्वेष से भ्रमित दृष्टि हो,
देख रहा तू अखिल सृष्टि को,
अन्धकार से बाहर आकर, समझ ढोल की पोल ।। साधो ..

क्या रखा है दौलत-धन में,
लग जा छोड़ भजन-साधन में,
बारम्बार नहीं मिलता है, दुर्लभ मानव-चोल ।। साधो ..

भव-सागर यह अगम भयंकर,
चेत, नहीं तो इसमें फँसकर,
अन्तकाल में नैया होगी, तेरी डाँवाडोल ।। साधो ..

मूल्यवान जीवन का पल-पल,
छोड़ मोह-मद छल-बल-कौशल ।
मत खो व्यर्थ जन्म मानव का,
है 'विदेह' अनमोल ।। साधो..

– *विदेह*

आत्मविश्वास की शक्ति

स्वामी विवेकानन्द

मैं यह कर सकता हूँ, यह नहीं कर सकता – यह सब भी अन्धविश्वास हैं। मैं सब कुछ कर सकता हूँ। वेदान्त सबसे पहले मनुष्य को अपने ऊपर विश्वास करने को कहता है। जैसे संसार का कोई-कोई धर्म उस व्यक्ति को नास्तिक कहता है, जो अपने से बाहर सगुण ईश्वर का अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, वैसे ही वेदान्त का भी कहना है कि **जो व्यक्ति स्वयं पर विश्वास नहीं करता, वही नास्तिक है।** अपनी आत्मा की महिमा में विश्वास न करने को ही वेदान्त में नास्तिकता कहते हैं।

यह आत्म-विश्वास का आदर्श ही हमारी सबसे अधिक सहायता कर सकता है। यदि इस आत्म-विश्वास का और भी विस्तृत रूप से प्रचार होता और यह कार्यरूप में परिणत हो जाता, तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि जगत् में जितने दु:ख तथा बुराइयाँ हैं, उनका अधिकांश दूर हो जाता। मानव-जाति के समग्र इतिहास में सभी महान् नर-नारियों में यदि कोई महान् प्रेरणा सर्वाधिक सशक्त रही है, तो वह आत्म-विश्वास ही है। वे इस ज्ञान के साथ पैदा हुए थे कि एक दिन वे महान् बनेंगे और वे महान् बने भी।

मनुष्य कितनी ही अवनति की अवस्था में क्यों न पहुँच जाय, एक समय ऐसा अवश्य आता है, जब वह उससे बेहद आर्त होकर एक ऊर्ध्वगामी मोड़ लेता है और अपने में विश्वास करना सीखता है। किन्तु हम लोगों को इसे शुरू से ही जान लेना अच्छा है। हम आत्म-विश्वास सीखने के लिए इतने कटु अनुभव क्यों प्राप्त करें?

यह बात बड़ी सरलता से समझी जा सकती है कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जो भेद है, वह केवल आत्म-विश्वास की उपस्थिति तथा अभाव के कारण ही है। **इस आत्म-विश्वास के द्वारा सब कुछ हो सकता है।** मैंने अपने जीवन में ही इसका अनुभव किया है, अब भी कर रहा हूँ और जैसे-जैसे आयु बढ़ती जा रही है, उतना ही यह विश्वास दृढ़तर होता जा रहा है। जिसमें आत्म-विश्वास नहीं है, वही नास्तिक है। **प्राचीन धर्मों के अनुसार जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। अभिनव धर्म कहता है – जिसमें आत्म-विश्वास नहीं, वही नास्तिक है।** पर यह विश्वास केवल इस क्षुद्र 'मैं' को लेकर नहीं है, क्योंकि वेदान्त एकत्व की भी शिक्षा देता है। इस विश्वास का अर्थ है – सबके प्रति विश्वास, क्योंकि तुम सभी एक हो।

मेरा विश्वास है कि यही महान् विश्वास जगत् को अधिक अच्छा बना सकेगा। वही सर्वश्रेष्ठ मनुष्य है, जो ईमानदारी के साथ कह सकता है, "मैं अपने विषय में सब कुछ जानता हूँ।" क्या तुम जानते हो कि तुम्हारी इस देह के भीतर कितनी ऊर्जा, कितनी शक्तियाँ, कितने प्रकार के बल अब भी छिपे पड़े हैं? मनुष्य में जो कुछ है, उन सबका ज्ञान भला कौन-सा वैज्ञानिक प्राप्त कर सकता है? लाखों वर्षों से मनुष्य पृथ्वी पर है, पर अभी तक उसकी शक्ति का पारमाणविक अंश मात्र ही प्रकट हुआ है। **तुम जबरन अपने को दुर्बल कैसे कहते हो?** क्या तुम जानते हो कि ऊपर से दिखनेवाली इस पतित अवस्था के पीछे कितनी सम्भावनाएँ छिपी हैं? तुम्हारे अन्दर जो कुछ है, उसका थोड़ा-सा ही तुम जानते हो। **तुम्हारे पीछे है शक्ति और आनन्द का अपार सागर!**

श्रद्धा! श्रद्धा! स्वयं पर श्रद्धा और परमात्मा पर श्रद्धा – यही महानता का एकमात्र रहस्य है। यदि पुराणों में निरूपित तैंतीस करोड़ देवताओं पर तुम्हारी श्रद्धा हो और उन पर भी जिन्हे विदेशियों ने बीच-बीच में तुम्हारे बीच घुसा दिया है; तथापि अपने आप पर श्रद्धा न हो, तो तुम कदापि मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते। **अपने आप पर श्रद्धा करना सीखो!** इस आत्म-श्रद्धा के बल से स्वयं ही अपने पैरों पर खड़े होओ और शक्तिशाली बनो। आज हमें इसी की आवश्यकता है।

हम भारतवासियों ने अपनी आत्म-श्रद्धा खो दी है। आज वेदान्त के अद्वैतवाद के भावों का प्रचार करने की इसीलिए जरूरत है, ताकि लोगों के हृदय जाग जायँ और वे अपनी आत्मा की महत्ता समझ सकें। इसी कारण मैं अद्वैतवाद का प्रचार करता हूँ और मैं इसे किसी साम्प्रदायिक भाव से प्रेरित होकर नहीं; बल्कि सार्वभौम, युक्तिपूर्ण और अकाट्य सिद्धान्तों के आधार पर इसका प्रचार करता हूँ।

द्वैतवादी हो, विशिष्टाद्वैतवादी हो, या अद्वैतवादी, सभी को यह दृढ़ विश्वास है कि आत्मा में सम्पूर्ण शक्ति अवस्थित है; केवल उसे व्यक्त करने भर की आवश्यकता है। इसके लिए हमें श्रद्धा की ही जरूरत है; हमें – अर्थात् इस देश में जितने भी व्यक्ति हैं, सभी को इसकी जरूरत है। इसी श्रद्धा की प्राप्ति का महान् कार्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। हमारे राष्ट्रीय खून में एक प्रकार के भयानक रोग का बीज

समा रहा है और वह है प्रत्येक विषय को हँसी में उड़ा देना, गम्भीरता का अभाव। इस दोष का पूर्ण रूप से त्याग करो। **वीर बनो, श्रद्धासम्पन्न होओ और इसके बाद बाकी सब कुछ अपने आप ही आ जायेगा।**

किसी बात से मत डरो। तुम अद्भुत कार्य करोगे। जिस क्षण तुम डर जाते हो, उसी क्षण बिल्कुल शक्तिहीन हो जाते हो। **संसार में दुख का मुख्य कारण भय ही है, यही सबसे बड़ा अन्धविश्वास है और यह भय ही हमारे सारे दुखों का कारण है।** निर्भीकता से क्षण भर में ही ईश्वर-प्राप्ति होती है। अतएव – **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** – 'उठो, जागो, और लक्ष्य तक पहुँचने के पूर्व तक रुको मत।'

जो व्यक्ति दिन-रात स्वयं को दीन, नीच तथा 'कुछ नहीं' समझता है तो वह 'कुछ नहीं' ही बन जाता है। **यदि तुम कहो कि 'मेरे अन्दर शक्ति है', तो तुममें शक्ति जाग उठेगी।** और यदि तुम सोचो कि 'मैं कुछ नहीं हूँ,' दिन-रात यही सोचा करो, तो तुम सचमुच ही 'कुछ नहीं' हो जाओगे। तुम्हें यह महान् तत्त्व सदा स्मरण रखना चाहिए। हम तो उसी सर्व-शक्तिमान परम पिता की सन्तान हैं, उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं – भला हम 'कुछ नहीं' क्योंकर हो सकते हैं? हम सब कुछ हैं, हम सब कुछ कर सकते हैं, और मनुष्य को सब कुछ करना ही होगा।

हमारे पूर्वजों में ऐसा ही दृढ़ आत्म-विश्वास था। इसी आत्म-विश्वास रूपी प्रेरणा-शक्ति ने उन्हें सभ्यता की उच्च-से-उच्चतर सीढ़ियों पर चढ़ाया था। और इस समय यदि हमारी अवनति हुई हो, हममें दोष आया हो, तो मैं तुमसे सच कहता हूँ, जिस दिन हमारे पूर्वजों ने अपना यह आत्म-विश्वास गँवाया था, उसी दिन से हमारी यह अवनति, यह दुरवस्था आरम्भ हो गयी।

आत्म-विश्वास-हीनता का मतलब है ईश्वर में अविश्वास। क्या तुम्हें विश्वास है कि वही अनन्त मंगलमय विधाता तुम्हारे भीतर से काम कर रहा है? यदि तुम ऐसा विश्वास करो कि वही सर्वव्यापी अन्तर्यामी प्रत्येक अणु-परमाणु में – तुम्हारे शरीर, मन और आत्मा में ओत-प्रोत है, तो फिर क्या तुम कभी उत्साह से वंचित रह सकते हो?

सेवा के संसार, प्रणाम

पुरुषोत्तम नेमा

**सेवा के संसार, प्रणाम।
'सत्य-सूर्य' परिवार, प्रणाम।
सागर-तल से एवरेस्ट तक –
एकोऽहं विस्तार, प्रणाम ।। सेवा.।।**

**हिम-गिरि-सा आधार, तू –
करुणा का आगार, तू।
गंगा की पावनता बनकर –
बना हृदय का हार, तू।
पाप-ताप हर, सुखकर सबको –
राम धवल यशधार, प्रणाम ।। सेवा.।।**

**झल-झल, झल-झल झलके तू –
निर्मलता में किलके तू।
सुखद ऊष्मा बन अन्तर की,
रोम-रोम में पुलके तू।
अत्र-तत्र-सर्वत्र विराजित-
विश्वरूप-अवतार, प्रणाम ।। सेवा.।।**

**प्रेम-शान्ति सन्देश तू-
सदाचार-गणवेश तू।
राम-कृष्ण-ईसा-पैगम्बर-
धारे अनगिन वेश तू।
गीता, पाक कलाम, प्रणाम –
मंत्र मूल ओंकार, प्रणाम ।। सेवा.।।**

**माधव-सेवा मधुर कहानी –
मानव-सेवा अति कल्याणी।
स्वर्ग बनाये इसी धरा को –
भव्य-दिव्य बाबा की वाणी।
दैवी गुण सम्पन्न बना दे –
वह वीणा-झंकार, प्रणाम ।। सेवा.।।**

**राम धवल यशधार, प्रणाम।
विश्वरूप अवतार, प्रणाम।
मंत्र मूल ओंकार, प्रणाम।
वीणा की झंकार, प्रणाम।
सागर-तल से एवरेस्ट तक,
एकोऽहं विस्तार, प्रणाम ।। सेवा.।।**

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (७/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ७ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उनके ७वें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

इस पवित्र देश, काल और वातावरण में आपके सामने कुछ सूत्र प्रगट हुए। अब इस अवसर पर इस प्रसंग की अंतिम पंक्ति आपके सामने रखूँगा और उसके माध्यम से कुछ बातें रखने की चेष्टा की जायेगी।

पहले धनुर्भंग की समस्या है। धनुर्भंग के बाद भगवान परशुराम का आगमन होता है। पहले नैराश्य का वातावरण था, फिर आनन्द का और उसके बाद एक भय का उदय। तदुपरान्त जब परशुराम जी भी अपना धनुष अर्पित करके वहाँ से पधार गये, तब महाराज जनक महर्षि विश्वामित्र के पास गये और उनके चरणों में प्रणाम किया। उस समय जो पंक्तियाँ मानस में लिखी गई हैं, उन्हें मैं दुहरा देता हूँ –

जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा।
प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा।।
मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहूँ भाईं।
अब जो उचित सो कहिअ गोसाईं।। १/२८६/५-६

इस पंक्ति में एक शब्द का प्रयोग किया गया। मानस में व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक, दोनों पक्षों का अद्‌भुत निर्वाह किया गया है और व्यावहारिक दृष्टि से कथा को अनेक रूपों में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। इसमें मूलतः व्यवहार और अध्यात्म का सामंजस्य है और इसका अन्तिम लक्ष्य है – हमें भगवान के स्वरूप का बोध कराना। व्यवहार और उसके बाद परमार्थ – यही सामंजस्य है।

इस प्रवचन-माला में व्यावहारिक पक्ष के स्थान पर आध्यात्मिक तत्त्व को ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया, इसमें मेरा प्रयास था भी नहीं, वह पंक्ति तो स्वयं ही सामने आई और प्रभु ने जैसा कहलाया, वैसा कहा गया। समापन में मैं आपको संक्षेप में कुछ सूत्र देना चाहूँगा।

राजर्षि जनक ने महर्षि विश्वामित्र के चरणों में प्रणाम करके जो वाक्य कहा, वह साधना और तत्त्व – दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने विश्वामित्र जी से कहा – श्रीराम द्वारा धनुष का यह टूटना, यह तो वस्तुतः आपकी कृपा-प्रसाद का ही परिणाम है –

जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा।
प्रभु प्रसाद धनु भंजेऊ रामा।। १/२८९/४

इसके बाद वे बोले – "इन दोनों भाइयों ने मुझे कृतकृत्य कर दिया है। अब मुझे आदेश दें कि मैं क्या करूँ, मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।" धनुर्भंग के बाद यह प्रसंग समाप्त किया जा सकता है, परन्तु महर्षि विश्वामित्र ने कहा – "विवाह तो सम्पन्न हो गया। अब मैं चाहता हूँ कि तुम अयोध्या दूत भेजो, वहाँ से महाराज दशरथ बारात लेकर आयें, मण्डप में विधिवत् कन्यादान-रूप विवाह सम्पन्न हो और सभी लोग उस आनन्द में भागी बनें।" यहाँ पर तीन बातें कही गईं और उसमें एक शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है।

कर्म मनुष्य के जीवन की बाध्यता है और यह बाध्यता इसलिए है कि हममें निरन्तर कुछ-न-कुछ पाने की इच्छा बनी रहती है। यदि हम कुछ पाना चाहते हैं, तो उसके लिए कुछ-न-कुछ करना ही पड़ता है। कर्म करना व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। लेकिन फिर भी कर्म जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता। इसका अनुभवं आप नित्य करते रहते हैं। हम दिन भर कर्म करते हैं, पुरुषार्थ करते हैं, पर एक ऐसी स्थिति आती है, जब हम कर्म से, पुरुषार्थ से अलग होने का प्रयास करते हैं। जब आप व्यवहार के क्षेत्र में निकलते हैं, तो आप अपने एक कमरे से निकलकर भवन में, भवन मे निकल कर कर्मक्षेत्र में और इस प्रकार अनेक लोगों के बीच फैलते जाते हैं। उसके बाद फिर समेटने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। अब आपको यह प्रतीत होता है कि शरीर थक चुका है, इसे विश्राम की आवश्यकता है। तब आप पुनः लौटते हैं, भीड़-भाड़ से निकलकर अपने भवन में आते हैं, भवन के भीतर अपने कक्ष में आते हैं और अपने कक्ष में पूर्ण शान्त भाव से विश्राम पाने का प्रयास करते हैं। तब यदि आपको गहरी नींद आ जाती है, तो सोकर उठने के बाद आप अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

दिन में आपको किसी कार्य में सफलता मिले, तब तो प्रसन्नता स्वाभाविक है, पर रात की गहरी नींद में आपने कुछ नहीं किया, उसके बाद भी अच्छा लग रहा है। यह जीवन का एक सत्य है, जिसका अनुभव हम सबको नित्य हो रहा है। इसका अर्थ है कि **कर्म साधन हो सकता है, साध्य नहीं**। इसलिए वेदान्त में और 'मानस' तथा 'गीता' में भी

यही बात कही गई है। ज्ञान का परिणाम क्या होगा?

आत्मन्येव च सन्तुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते ।। ३/१४

– 'जो व्यक्ति स्वयं में ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्तव्य ही नहीं बचता।' अभिप्राय यह है कि जब जीवन में ऐसी अनुभूति होने लगी कि कुछ पाने की आकांक्षा ही नहीं रही, तो उस समय कर्म की अपेक्षा समाप्त हो जाती है। 'मानस' में भी आपको ठीक यही वाक्य मिलता है –

कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें ।। ७/११२/३

स्वरूप को पहचान लेने के बाद फिर कर्म का स्थान ही कहाँ है। आगे इसी प्रसंग में इसका उत्तर भी दिया गया है। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के प्रति राजर्षि जनक की जो उक्ति है, उसमें एक शब्द चुना गया और वह शब्द है '**कृतकृत्य**'। इसका अर्थ क्या है? कृत्य कहते हैं कर्म को और कृत माने जिसे कर लिया – जब आपको प्रतीत हो कि हमारी आध्यात्मिक साधना में अब कुछ भी कर्म करना शेष नहीं है, उसके लिए यह शब्द है 'कृतकृत्य'। यह कृतकृत्यता भक्ति का भी लक्ष्य है और ज्ञान का भी और अन्त में कर्मकाण्ड में भी व्यक्ति को विराम और विश्राम की आवश्यकता का बोध होता है।

इस कृतकृत्यता के लिए साधना का जो स्वरूप है, वह आपको धनुष-यज्ञ में मिलेगा। महाराज जनक जैसे महान् ज्ञानी भी कह रहे हैं – मैं कृतकृत्य हो गया। **वहाँ पर उन्होंने तीन बातें कहीं, जो बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।** पहली बात उन्होंने कही कि यह धनुष आपके कृपा-प्रसाद से टूटा है। इसकी व्याख्या बड़ी गम्भीर है, उसका मूल तत्त्व बड़ा रहस्यपूर्ण है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान जब अवतार के रूप में क्रिया करते हुए दिखते हैं या उनके द्वारा कोई महान् कार्य होता है, जैसे रावण का वध या अन्य जितने भी कार्य हुए, तो भक्त कहता है कि सब कुछ भगवान ही करते हैं। सूरदास जी या तुलसीदास जी के सब ग्रन्थों में यही मिलता है –

करी गोपाल की सब होई।
जो अपनो पुरुषारथ मानत, अति मूरख है सोई ।।

तो भगवान में यह जो क्रिया दिखाई देती है, वह क्या कुछ पाने के लिए है? परिपूर्ण ब्रह्म अवतार ले, नाना प्रकार की क्रीड़ा करे, विवाह हो, यज्ञ हो, युद्ध हो, ऐसी घटनाओं के पीछे कारण क्या है? ये सब वस्तुतः कैसे घटित होता है? जनक जी ने एक ही शब्द में कहा – '**गुरु-प्रसाद**'।

इसे समझने के लिए कुछ दृष्टान्त दिए जा सकते हैं। जैसे गाय के शरीर में दूध है, पर यह जान लेने के बाद भी व्यक्ति जब गाय से दूध पाना चाहता है, यह आवश्यक है कि गाय में वात्सल्य का एक ऐसा भाव उदित हो, जिससे उसका दूध सिमटकर स्तनों में आ जाय। जब आप गाय के बछड़े को उसके सामने छोड़ देते हैं, तो बछड़े को देखकर गाय वात्सल्यमयी – भावमयी हो जाती है और उसका दूध सिमटकर उसके स्तन में आ जाता है। तब थोड़ा दूध बछड़ा पी लेता है और उसके पश्चात् बाकी दूध व्यक्ति अपने लिए ले लेता है। यह एक दृष्टान्त है। अब यदि हमें भगवान की कृपा पानी हो, तो कृपा तो उनका स्वभाव है, स्वरूप है, गुण है; लेकिन उस कृपा की अनुभूति हमें नहीं हो रही है। तब यदि हम भगवान की तुलना गाय से करें और कृपा का दूध पाना चाहें, तो बछड़े की आवश्यकता तो है ही। **सन्त और गुरु ही वे बछड़े हैं, जो उस दूध को प्रगट कर देते हैं और हम लोग उसका प्रसाद ग्रहण करते हैं।**

ईश्वर में स्वतः की कोई वृत्ति नहीं है। आप देखिए ऐसा भीषण भूकम्प हुआ, इसमें हजारों व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। यह सब देखकर व्यक्ति को कितना दुःख होता है, कितनी दया आती है और यह स्वाभाविक भी है। अब आप कल्पना कीजिए कि यदि भगवान में स्वतः ऐसी कोई वृत्ति होती, तो वे भूकम्प ही क्यों आने देते, जिसमें इस प्रकार हजारों व्यक्ति काल-कवलित हो जायँ। परन्तु सृष्टि अपनी ही पद्धति से चलती है। प्रकृति के जो नियम हैं, तदनुसार ही सृष्टि चल रही है। उसमें भगवान प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नहीं करते। उस ब्रह्म को भगवान, भगवान को ईश्वर और ईश्वर को भी वात्सल्यपूर्ण बनाना – गुरु और सन्त की यह भूमिका है।

इसके अनेक दृष्टान्त दिए गये। मानस में दृष्टान्त दिया गया – रावण के अत्याचार से समाज, देवता, पृथ्वी व्याकुल हैं। पर वह व्याकुलता भगवान को तो कहीं प्रभावित नहीं करती। मानो वही सूत्र है। भगवान में स्वतः कोई आकांक्षा नहीं है। तब उनमें करुणा और वात्सल्य उत्पन्न करने हेतु ब्रह्मा उनसे प्रार्थना करते हैं। **साधना के ये दो पक्ष हैं** – जब आप पूजा-पाठ करते हैं तब आप अपने पुरुषार्थ का सदुपयोग करते हैं और जब हम आप प्रार्थना करते हैं, प्रभु के सामने तो अपनी असमर्थता को निवेदित करते हैं।

सामर्थ्य का सदुपयोग है जप-तप, पूजा-पाठ करना और असमर्थता का सदुपयोग है भगवान से प्रार्थना करना। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे आपको संसार में कोई वस्तु पाना हो और यदि आपके पास पैसे हैं, तो बाजार में उस वस्तु की कीमत देकर खरीद लाइए। परन्तु यदि आपकी जेब में कीमत चुकाने के लिए पैसे न हो या उसका मूल्य अधिक और आपके पैसे कम हों, तब आप दुकानदार से यही कहेंगे कि हमारे पास तो इतना ही है, अब आप कृपा कीजिए।

ये दो पक्ष हैं। रामायण में दोनों हैं – साधना और कृपा। **साधना और तपस्या का पक्ष प्रस्तुत किया मनु के द्वारा और प्रार्थना का पक्ष ब्रह्मा तथा देवताओं के द्वारा।** सभी देवता ब्रह्मा के साथ एकत्र होकर सामूहिक प्रार्थना करते हैं। उस

प्रार्थना में वे बड़ा मधुर शब्द कहते हैं – 'द्रवहु'। मानो आपके सामने सोना-चाँदी, लोहा-ताँबा – कोई धातु हो और आप उससे पिघलने के लिए प्रार्थना कर रहे हों। ये सारे धातु कठोर होते हैं। धातु में हमारे द्वारा अपेक्षित आकृति नहीं है। अब यदि हम चाहते हैं कि उस धातु से हमारी मनचाही मूर्ति बने, तो हम क्या करते हैं? पहले उसे पिघलाया जाता है और उस पिघली हुई धातु को अपने मनोवांछित रूप के साँचे में डाल देते हैं, तो उसका वही रूप बन जाता है।

रावण ने इतना अत्याचार किया, सभी त्रस्त हैं और ईश्वर तो मानो मूक द्रष्टा हैं। तब ब्रह्मा ने प्रार्थना में क्या कहा? उन्होंने यही कहा – आप पिघलिए –

द्रवउ सो श्री भगवाना। १/१८६/४छं

यह ठीक है कि ईश्वर जो करते हैं, अच्छा ही करते हैं, पर उनको द्रवित भी करना पड़ता है। जीवन में अगणित ऐसी घटनाएँ होती हैं, जिन्हें देखकर हम द्रवित हो जाते हैं। ब्रह्म भी पिघलता है और हमें जैसा उसका रूप चाहिए, हमारे हृदय में जो साँचा है, वह उसे वैसा रूप दे देता है।

महाराज जनक ने महर्षि विश्वमित्र से जो कहा – आपकी कृपा से राम ने धनुष को तोड़ दिया। ब्रह्माजी ने जो कहा और जनक जी ने जो कहा, दोनों का अभिप्राय वही है। बड़े महत्त्व का सूत्र है। जनक जी ने गुरु विश्वामित्र का नाम क्यों लिया? बोले – श्रीराम तो पहले से ही बैठे हुए थे, पर जब तक आपने नहीं कहा, तब तक नहीं उठे। अत: धन्यवाद तो आपको ही देना होगा। **निर्गुण-निराकार ईश्वर को जिन भक्तों के द्वारा सगुण-साकार बनाया जाता है, भगवान उन भक्तों से पूछते हैं कि अब बताओ, मुझे क्या करना है।** स्वयं प्रभु का अवतार हो चुका है, पर अभी ताड़का का वध नहीं हुआ है, अहल्या का उद्धार भी नहीं हुआ है, धनुर्भंग नहीं हुआ है। इसलिए उसका सूत्र यही है, यह केवल भावुकता की बात नहीं, सैद्धान्तिक सत्य भी है। इसीलिए सन्तों के द्वारा यह कहा जाता है कि **भगवान की कृपा के साथ-साथ आपकी अपनी कृपा भी तो होनी चाहिए** – आकांक्षा, उत्कण्ठा, व्याकुलता होनी चाहिए। अगर यह न हो, तो ईश्वर स्वयं अपनी ओर से हस्तक्षेप नहीं करेगा। यदि विश्व के इतिहास को आप देखें, तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

विश्वामित्र व्याकुल हैं और दशरथ जी से श्रीराम तथा लक्ष्मण को माँगते हैं। दशरथ जी के लिए यह बड़ी विचित्र और कठिन परिस्थिति है। उनके अन्त:करण में स्वार्थ की वृत्ति आ गई। दशरथ जी ने एक पुत्र की याचना की थी और उन्हें चार पुत्र मिले थे, पर उन्होंने गणित कैसा किया! हृदय में लोभ होने पर व्यक्ति ऐसे ही गणित करता है। दशरथ जी बोले – मेरी चौथी अवस्था है और चार ही पुत्र हैं!

चौथेपन पायउँ सुत चारी।। १/२०८/२

कितना बढ़िया गणित है! यदि पाँचवा होता, तो एक दे देता। चौथी अवस्था है और चार ही पुत्र हैं। अधिक होते तो दे देता। गुरु वशिष्ठ ने उन्हें स्मरण दिलाया कि ये चार पुत्र तुम्हारी इच्छा या याचना से नहीं मिले। तुम्हें दुख केवल इस बात का था कि तुम्हें पुत्र नहीं है। यह तो मैंने कहा था – धीरज रखो, तुम्हें चार पुत्र होंगे –

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी।

परन्तु उसके साथ ही मैंने यह भी कहा था कि – वे तीनों लोकों में प्रसिद्ध तथा भक्तों का भय दूर करनेवाले होंगे –

त्रिभुवन बिदित भगत भय हारी।। १/१८९/४

अब तुम अपने ही आनन्द में डूबे रहोगे, बाल-लीला का रस लेते रहोगे, तो त्रिभुवन के लोग उन्हें कैसे जानेंगे? एक भक्त पर संकट आया है। वह कष्ट-निवारण हेतु याचना करने आया है। तुम मेरे उस शब्द को भूल गए? मैंने कहा था – **भगत भय हारी** – तुमने इतना ही याद रखा कि चार पुत्र होंगे और आगे जो कहा उसे भूल गये? मानव-स्वभाव कितना विचित्र है! हम भगवान और सन्त की वाणी में से भी केवल उतना ही याद रखना चाहते हैं, जो हमारे स्वार्थ के अनुकूल हो। कई बार तो इस प्रवृत्ति का बड़ा विचित्र रूप देखने को मिल जाता है।

महाराज दशरथ गुरु वशिष्ठ के उन शब्दों को भूल गये। एक पुत्र की इच्छा थी और वशिष्ठ जी ने कहा – चार होंगे। आगे उन्होंने यह भी कहा कि वे चारों पुत्र त्रिभुवन विदित और भक्त भयहारी होंगे। बस उन्हें अपने स्वार्थ के अनुकूल इतना ही याद रहा कि चार पुत्र होंगे और उन्हें उन्होंने अपनी चार अवस्थाओं से जोड़ लिया। फिर बोले – महाराज, मेरे पुत्र तो बड़े सुकुमार हैं। आप माँग रहे हैं, मैं कैसे दूँ? –

तब बसिष्ट बहुविधि समुझावा।। १/२०८/८

पूरी बात याद नहीं कर रहे हो, याद करो, जो होना है, उसे हो लेने दो। और वह कैसे होगा? विश्वामित्र यदि न हों, तो भगवान की लीला का विस्तार नहीं होगा। ये जो प्रेरक भक्त और सन्त हैं, जो प्रत्येक युग में होते हैं और आपके जीवन में भी हो सकते हैं, वे ही भगवान के उस दिव्य स्वरूप को, महिमा को, तत्त्व को प्रगट करने में सक्षम होते हैं। विश्वामित्र जी की यही भूमिका है।

रामायण के प्रत्येक शब्द के पीछे आध्यात्मिक सत्य निहित है। विवाह के बाद जब भगवान जनकपुर से लौटकर अयोध्या आये, तो वे तो अधिक बोलते नहीं हैं, बड़े संकोची हैं, इसलिए माँ ने लक्ष्मण से पूछा – बेटा, सुना है कि राम ने एक बाण से ताड़का वध कर दिया? लक्ष्मण बड़े प्रसन्न होकर बोले – हाँ, माँ, ताड़का का वध कर दिया, अहल्या

का उद्धार कर दिया, शिव का धनुष तोड़ दिया। माँ ने कहा – जरा सोचो, राम का जन्म तो मेरे गर्भ से हुआ है, मनुष्य का पुत्र होकर ऐसे कार्य कर सका, यह क्या इसकी विशेषता है? राम ने मुस्कुराते हुए माँ की ओर देखा। तब माँ ने सीधे राम से ही कहा – लक्ष्मण ने यह सब कह तो दिया, पर कहीं तुम्हें तो भ्रम नहीं है कि यह सब तुमने किया! नहीं, महान् सन्त विश्वामित्र ने अपनी कृपा द्वारा तुमसे करा लिया –

सकल अमानुष करम तुम्हारे।
केवल कौसिक कृपाँ सुधारे ।। १/३५७/६

प्रभु बड़े प्रसन्न हुए, बोले – "माँ, आपने बिलकुल ठीक कहा, मैं कहाँ कुछ कर पाता हूँ! मैं तो अकर्ता हूँ, कूटस्थ और द्रष्टा हूँ।" प्रभु को यह बड़ा मधुर सूत्र मिल गया! चौदह वर्षों के वनवास तथा रावण-विजय के बाद वे अयोध्या लौटे। इधर माँ को भी सारी सूचनाएँ मिल रही थीं और वे सोच रही थी कि इन चौदह वर्षों में मेरा पुत्र खूब स्वस्थ तथा बड़ा बलवान हो गया होगा, पर जब उन्होंने देखा कि राम तो बड़े दुबले लग रहे हैं, तो सोचने लगीं – मेरा यह सुकुमार पुत्र लंकाधिपति रावण को कैसे मार सका होगा –

हृदयँ बिचारति बारहिं बारा।
कवन भाँति लंकापति मारा।। ७/७/७

अब प्रभु को लगा कि वही पुराना मंत्र काम देगा। उन्होंने सीधे माँ से नहीं कहा, बल्कि वे बन्दरों से कहने लगे – मैंने कुछ नहीं किया, वह तो वस्तुतः गुरुदेव की कृपा थी –

गुर बसिष्ट कुल पूज्य हमारे।
इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे ।। ७/८/६

माँ प्रसन्न हो गईं। प्रभु सर्वत्र यही कहते हैं कि वस्तुतः यह जो कुछ हुआ है, रावण का जो वध हुआ है, वह तो सब आप लोगों के द्वारा ही हुआ है।

और रावण? वह तो राक्षसों से कह देता है कि तुम यह न समझ लेना कि हम तुम्हारी सहायता से जीतेंगे, मैंने तो अपने बाहुबल पर यह युद्ध ठाना है –

निज भुज बल मैं बयरु बढ़ावा ।। ६/७८/६

परन्तु भगवान बड़े विनम्र-भाव से विजय का सारा श्रेय दूसरों को ही देते हैं। व्यवहार में यह विनम्रता तो है ही, पर तात्त्विक सत्य भी यही है कि ब्रह्म में जो कुछ भी क्रिया दिखाई देती है, वह भक्त तथा साधक की भावना का ही परिणाम है। ब्रह्म तो परम स्वतन्त्र है। इसीलिए नारद नाराज होकर भगवान से कहते हैं – तुम परम स्वतंत्र हो, तुम्हारे सिर पर कोई नियम-कानून तो है नहीं। तुम्हारा एक ही काम है – अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा बनाते रहते हो –

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।
भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई।।
भलेहि मंद मंदेहि भल करहू।
बिसमय हरष न हियँ कछु धरहू ।। १/१३७/१-२

रोष में नारद तो यहाँ तक कह बैठे – अब तक तो लोगों के अच्छे-बुरे कर्मों का फल तुम देते रहे, पर अब तुम्हारे कर्मो का फल मैं तुम्हें दूँगा। और यह कहकर उन्होंने भगवान को शाप दे दिया। तब भगवान ने क्या किया? नारद जी का शाप सिर पर रख लिया – **श्राप सीस धरि** (१/१३७) और मुस्कराकर बोले – महाराज, अब न कहिएगा कि मेरे सिर पर कोई नहीं है। आपका वरदान ही नहीं, शाप भी मेरे सिर पर है। यही भक्ति का आनन्द है और यही भक्तों के भगवान हैं। भगवान स्वयं कहते हैं – **अहं भक्त पराधीनम्।** मैं परम स्वतंत्र नहीं हूँ, मैं तो भक्तों के पराधीन हूँ। इसीलिए वहाँ माँ ने कहा – ज्ञान तो ज्ञान है ही, तत्त्व, तत्त्व के रूप में रहे, पर उसके साथ ही भक्त को रस का उद्रेक एवं आनन्द की भी अनुभूति हो, यही सगुण-साकार लीला का उद्देश्य है।

ग्यान अखंड एक सीताबर ।। ७/७८/४

श्रीराम अखण्ड ज्ञान हैं। और ज्ञान कैसे होता है? गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता –

बिनु गुर होइ कि ग्यान
ग्यान कि होइ बिराग बिनु ।। ७/८९/क

उनके चरित्र में धनुष तोड़ने की जो क्रिया दृष्टिगोचर हुई, उसमें भी विश्वामित्र जी ही मुख्य हेतु हैं, यह गुरु की भूमिका है। गुरु वह है जो अधिकारी-भेद के अनुसार शिष्य को भगवान का रूप, महिमा शील, स्वभाव का परिचय दे दे। इसीलिए जनक जी ने पहले यही कहा – यह तो आपका प्रसाद था जो राम ने धनुष तोड़ा –

प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा ।। १/२८६/५

इसका बहुत व्यापक अर्थ है, बहुत गहरा संकेत है, उसे संक्षेप में केवल इतना कह दूँ कि यह जो कृतकृत्य हो जाना है, इसके लिए अन्तःकरण चतुष्टय में परिपूर्णता की अनुभूति आवश्यक है। इसका अभिप्राय है कि यदि बाहर ही निर्माण का प्रयास करें, बाहर का कमरा, बैठक का कमरा तो खूब सजायें और भीतर सारी गन्दगी भरी पड़ी हो, तो वहाँ पर भला क्या कोई सुख से रह सकता है? व्यक्ति की समस्या केवल बाहर नहीं है। बाहर की समस्या का समाधान तो देश और समाज के नेता कर रहे हैं, वे लोग अनेक कार्य सम्पन्न कर रहे हैं। पर वस्तुतः जब तक भीतर समाधान नहीं होगा, तब तक पूर्ण धन्यता का अनुभव नहीं होगा।

❖ (क्रमशः) ❖

पुरुषार्थ और प्रारब्ध

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मैं दो व्यक्तियों को जानता हूँ। वे परस्पर बड़े मित्र हैं, पर दोनों की विचारधाराएँ बिलकुल विपरीत हैं। एक हैं जो पुरुषार्थ में विश्वास करते हैं - कहते हैं, मनुष्य अपने प्रयत्न से सब कुछ हासिल कर सकता है, जबकि दूसरे प्रारब्ध यानी भाग्य के पक्षधर हैं। वे कहते हैं कि जीवन में भाग्य का ही बोलबाला है। वे अपने पक्ष में प्रायः ही महाभारत का श्लोक सुना देते हैं - 'भाग्य फलति सर्वत्र न दैवं न च पौरुषम्' - यानी सर्वत्र भाग्य ही फलता है - न ईश्वर की इच्छा, न पुरुषार्थी। जब इन दोनों मित्रों में बहस होती है, तो वह सुनने लायक होती है। दोनों अपने अपने पक्ष में जोरदार तर्क देते हैं। जो पुरुषार्थी मित्र हैं, वे भी महाभारत से ही श्लोक लेकर अपना पक्ष प्रस्तुत कर देते हैं, जहाँ पर भीष्म युधिष्ठिर को पुरुषार्थ की प्रधानता समझाते हुए कहते हैं –

साधारणं द्वयं ह्येतद् दैवमुत्थानमेव च ।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चितमुच्यते ॥

– अर्थात् ''युधिष्ठिर ! कार्य की सिद्धि में यद्यपि प्रारब्ध और पुरुषार्थ, ये दोनों साधारण कारण माने गये हैं, तथापि मैं पुरुषार्थ को ही प्रधान मानतां हूँ। प्रारब्ध तो पहले से ही निश्चित बताया गया है।''

पर भाग्यवादी मित्र सहज में ही हार नहीं मानते। वे अपने पुरुषार्थी मित्र से कहते हैं - ''तुम्हें अभी तक किसी असफलता का सामना नहीं करना पड़ा, इसलिए तुम पुरुषार्थ को लेकर इतना उछल रहे हो। जब लाख चेष्टा करने पर भी देखोगे कि तुम्हारा काम बना नहीं, तब समझोगे कि जीवन का नियंत्रण पुरुषार्थ नहीं, भाग्य करता है।''

पहले ये भाग्यवादी मित्र भी बड़े पुरुषार्थी थे। उनके जीवन में एक हादसा हो गया। तब से उनकी दृष्टि में भाग्य ही सर्वोपरि है। हुआ यह कि उनका इकलौता पुत्र बीमार पड़ गया। धन की तो उनके पास कमी थी नहीं, वे एक-से-एक डॉक्टर के पास अपने बेटे को ले गये, पैसा पानी की तरह बहाया, पर अन्त में वे प्रारब्ध के समक्ष न टिक पाये, पुत्र की मृत्यु हो गयी। तब से उनका विश्वास पुरुषार्थ से हट गया। वे भाग्यवादी बन गये। और भाग्य का ही दूसरा नाम प्रारब्ध है।

ऐसा बहुतों के साथ होता है। जब तक हमारे मन के अनुसार सारे काम बनते रहते हैं, तब तक हम बड़े पुरुषार्थी होते हैं, पर जब काम बिगड़ने लगते हैं, चेष्टा करने पर भी सफलता नहीं मिलती, तो हम टूटकर भाग्य का सहारा लेते हैं। भाग्य के सम्बन्ध में हमारी धारणा यह है कि वह एक ऐसी शक्ति है, जो दिखती नहीं, पर जो मनुष्य के जीवन की घटनाओं का उसी प्रकार संचालन करती है, जैसे एक सूत्रधार यवनिका के पीछे से कठपुतलियों को नचाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम अतियों में रहना पसन्द करते हैं। कोई पुरुषार्थ का एक अति पसन्द करता है, तो कोई भाग्य का दूसरा अति।

पर जीवन की घटनाओं के पीछे पुरुषार्थ और प्रारब्ध दोनों ही विद्यमान हैं। एक को छोड़कर दूसरे का ग्रहण करना सन्तुलित दृष्टि नहीं है। हमारा जीवन इन दोनों के द्वारा नियंत्रित होता है। यदि हम असफलताओं से टूटकर ऐसा मान लें कि जीवन में पुरुषार्थ नाम की कोई चीज ही नहीं है, तब हममें जड़ता, अकर्मण्यता आ जाएगी। हमारी वृत्ति भाग्य-भरोसे बैठे रहने की होगी और हम अतिवाद के शिकार हो जाएँगे।

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने इन दोनों का एक दृष्टान्त के माध्यम से सुन्दर समन्वय किया है। वे कहते हैं – मान लीजिए हम ताश खेलने बैठे। ताश की जो पत्तियाँ हमारे हाथ में आयी हैं, यह प्रारब्ध का पक्ष है। पर इन पत्तियों से हम खेल किस प्रकार खेलते हैं, यह पुरुषार्थ का पक्ष है। हम जितना पुरुषार्थ व्यक्त करेंगे, हमारे जीतने की उतनी सम्भावना बनी रहेगी। इसी प्रकार जीवन में जो परिस्थितियाँ हमें प्राप्त हैं, वे प्रारब्ध या भाग्य के कारण हैं। अब हम इन परिस्थितियों का उपयोग कैसे करते हैं, यह हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर करेगा। यदि हमें एक बार असफलता मिलती है, तो हम दुबारा प्रयत्न करेंगे। यही जीवन के प्रति सन्तुलित दृष्टि है।

❑❑❑
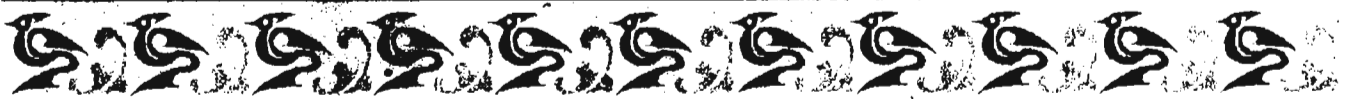
मेरे मुहल्ले के फूल

डॉ. नरेन्द्र कोहली

मेरे मुहल्ले में फूल नहीं खिलते। नहीं। यह सत्य नहीं है। सत्य यह है कि मेरे मुहल्ले में खिलते हुए फूल भय से पीले पड़ जाते हैं। ... बहुत दिनों तक मुझे अपने मुहल्ले में कोई खिला हुआ फूल दिखाई नहीं दिया था। उस दिन दिखाई दिया, तो मेरा ध्यान इस बात पर भी गया कि वह बेहद डरा और घबराया हुआ था।

– "क्या बात है?" मैंने पूछा, "तुम हँसने और खिलखिलाने के स्थान पर भय से पीले क्यों पड़ गये हो?"

– "तुम्हारे मुहल्ले में भगवान के बहुत सारे भक्त हैं न, इसीलिए।"

– "तुम भक्तों से डरते हो?"

– "डरना ही पड़ता है।" वह धीमे स्वर में बोला, "इधर मेरे अधर मुस्कुराये और उधर उनकी क्रूर अँगुलियों ने मुझे नोच लिया। पूरी तरह खिलने भी नहीं देते।"

मैं जानता था कि प्रकृति झूठ नहीं बोलती; फिर भी मैंने फूल के सत्य को परखना चाहा। एक रोज प्रातः कुछ जल्दी उठकर बाहर निकल आया। देखा कि पड़ोस में ओझाजी के घर में लगी चमेली की बेल पर कोई झुका हुआ फूल चुन रहा है।

"क्या कर रहे हो?" – मैंने पूछा।

वह पहले तो कुछ डरा; किन्तु फिर शेर हो गया, "पूजा के लिए फूल तोड़ रहा हूँ।"

– "तुमने ओझाजी से अनुमति ली?"

– "किस बात की अनुमति?"

– "फूल तोड़ने की।"

उसने ढीठ होकर मेरी ओर देखा और फिर फूल तोड़ने लगा, "फूल भगवान ने बनाये हैं। मैं उन्हीं की पूजा के लिए फूल तोड़ रहा हूँ। ओझाजी से किस बात की अनुमति लूँ?"

– "वैसे तो तुम्हारा सिर भी भगवान ने बनाया है।" मैंने कहा, "उसे तोड़ने के लिए मुझे किसी की अनुमति की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

– "क्या मतलब है तुम्हारा?" उसने घूरकर मुझे देखा, "तुम मुझे धमकी दे रहे हो?"

– "नहीं।" मै बोला, "मैं केवल यह बता रहा हूँ कि तुम जो कुछ कर रहे हो, उसका नाम चोरी है।"

– "तुम मुझे चोर कह रहे हो?" उसने क्रुद्ध होकर पूछा।

– "नहीं, मैं चोर नहीं कह रहा। केवल यह बता रहा हूँ कि जो कुछ तुम कर रहे हो, वह चोरी है।"

उस पर कहने का उल्टा ही प्रभाव पड़ा। वह अब मुझे धमका रहा था, "भगवान की पूजा के लिए फूल तोड़ना चोरी है? मुझे चोर कर रहे हो। पापी! पाखण्डी! तुम इस धरती पर बोझ हो।"

मैं सहम गया। यह सब तो मैंने सोचा ही नहीं था। फिर भी मैंने साहस करके कहा, "यदि यह जमीन ओझाजी की है; उसमें पौधा ओझाजी ने रोपा है, सींचा है, उसे खाद ओझाजी या उनके माली ने दी है; तो उस पौधे पर लगे फूल ओझाजी की सम्पत्ति हैं। उनकी अनुमति के बिना उन फूलों को तोड़ना चोरी ही तो है।"

किन्तु मेरा तर्क उसे तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाया। वह मुझे डाँटता हुआ बोला, "यह जमीन भगवान की नहीं ओझाजी की है क्या? इस पर जो पानी बरसा वह भगवान ने नहीं ओझाजी ने बरसाया था क्या? धरती के गर्भ में बीज की जिसने रक्षा की वह भगवान नहीं, ओझाजी थे क्या? अब तुम बताओ, ये फूल भगवान के नहीं, तो किसके हैं?"

मैं अपने सारे तर्क भूल गया। मैं यह तो कह सकता कि यह घर और यह प्लॉट, जिस पर यह मकान बना हुआ था, सरकारी कागजों में ओझाजी की सम्पत्ति थी; किन्तु मैं यह कैसे कह सकता था कि धरती बनानेवाले और आकाश से जल की वर्षा करनेवाले तथा धरती के भीतर अंकुर की रक्षा करनेवाले भी ओझाजी ही थे। न तो मैं इतना नास्तिक हो सकता था; और न मेरा पड़ोसी-प्रेम इतना बड़ झूठ बोलने का साहस दे पा रहा था। ... और वह व्यक्ति था कि साहसी से दुस्साहसी होता जा रहा था।

– "बताओ!" वह फिर बोला, "मैं चोर हूँ क्या?"

मैंने घबराकर सिर खुजलाया और कहा, "तुम्हें मैंने चोर नहीं कहा; किन्तु तुम यह बताओ कि तुम भगवान हो क्या, जो भगवान के फूल अपनी झोली में समेटे जा रहे हो! जिनके फूल हैं स्वयं लेने दो।"

वह भी मेरे ही समान भौचक्का रह गया, "मैं भगवान का एक साधारण भक्त हूँ। भगवान कैसे हो सकता हूँ। मैं तो केवल उनके फूल उन पर चढ़ा रहा हूँ।"

– "अर्थात् भगवान को धोखा दे रहे हो?"

– "क्या मतलब?"

– 'उनकी ही चीज उन्हें उपहार में दे रहे हो, जैसे वह तुम्हारी सम्पत्ति हो।"

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(१) दृढ़ संकल्प सब पे अति भारी

हज़रत मुहम्मद साहब ने जब एक बार मुरीदों को बताया कि इस धरती पर सबसे कठोर पहाड़ हैं, तब एक ने प्रश्न किया, "तो क्या पहाड़ से ताकतवर कुछ नहीं है?"

"हाँ है।" – मुहम्मद साहब बोले – "उससे ताकतवर है लोहा, जो उसके टुकड़े-टुकड़े कर सकता है।"

– "इसका मतलब यह हुआ कि लोहा सबसे ताकतवर है!" – अगला प्रश्न था।

– "नहीं लोहे के अहंकार को नष्ट करके उसे द्रव में बदलने की ताकत आग में है।" – जवाब मिला।

– "मगर आग को तो पानी बुझा सकता है।" जब मुरीद ने कहा, तो हजरत ने बोले – "हाँ, पानी आग की दाह को बुझा सकता है।"

– "इसका यह अर्थ हुआ कि पानी से टकराने की ताकत किसी में नहीं है।" – शिष्य ने अपना मत व्यक्त किया।

– "नहीं, वायु पल भर में पानी की धारा को मोड़ सकती है।" – हज़रत ने बताया।

– "तब तो वायु ही सबसे ताकतवर हुई।"

– "नहीं, मनुष्य की संकल्प-शक्ति वायु से श्रेष्ठ और ताकतवर है। वायु की गति से मनुष्य के मन की गति तीव्र होती है। मनुष्य चाहे तो वायु को अपने नियंत्रण में ला सकता है। मगर इसके लिए उसमें संकल्प और दृढ़ इच्छा-शक्ति होनी चाहिए। मनुष्य यदि दृढ़-संकल्प हो, तो वह वायु ही क्या, किसी भी वस्तु पर विजय प्राप्त कर सकता है।" – हज़रत ने निष्कर्ष के रूप में बताया।

(२) कबिरा मन निर्मल भया

एक बार ईसा मसीह घूमते-घूमते एक गाँव में गये। वहाँ उन्हें एक स्त्री कुएँ से पानी भरती दिखाई दी। वे उसके पास गये और बोले, "यदि आप मुझे पानी पिला दें, तो बड़ी कृपा होगी।" स्त्री ने उन्हें इससे पहले नहीं देखा था, उनकी वेश-भूषा भी अलग थी, इसलिए उसने ईसा से कहा, "क्षमा करें, एक तो आप यहाँ के निवासी नहीं है, दूसरे आपकी जाति भी दूसरी है। इन कारणों से मैं आपको पानी नहीं दे सकती।"

ईसा ने सुना, तो हँसने लगे। यह देख स्त्री को ताज्जुब हुआ। उसने पूछा, "आप हँस क्यों रहे हैं।" – "बात हँसी की ही है" – ईसा ने जवाब दिया, "तू यह समझती है कि यदि तूने मुझे पानी पिला दिया, तो तुझे पाप लगेगा और यदि तूने इस गाँववाले या अपनी जातिवाले को पिला दिया, तो तुझे पुण्य होगा। मगर यह तेरा भ्रम है। तुझे यह नहीं मालूम कि तू जिसको पानी पिलाती है, उससे वह हमेशा के लिए तृप्त नहीं होता। उसे आगे भी प्यास लगती ही है। तूने मुझे पानी नहीं दिया, इससे मेरा कुछ नहीं बिगड़ा, क्योंकि मैं बिना पानी पिये रह सकता हूँ। इसके उल्टे मुझमें ऐसी शक्ति है कि मैं तेरी प्यास बुझा सकूँ। मैं तुझे ऐसा परम शीतल जल दूँगा कि जिससे तेरी प्यास फिर कभी जाग्रत नहीं होगी – तेरी तृप्ति चिरस्थायी होगी। लेकिन यह जल लाने में

पिछले पृष्ठ का शेषांश

वह क्षण भर कुछ सोचता रहा और सहसा उसे कुछ याद आ गया। वह पहले के ही समान भड़ककर बोला, "याद रखो, तुमने मुझे चोर कहा है! एक शरीफ आदमी को चोर कहने का परिणाम जानते हो? मैं तुम्हें इसके लिए दण्ड भी दिलवा सकता हूँ।"

एक बार तो मैं सहम ही गया; क्या पता यह कौन है! हो सकता है कि यह कोई बड़ा सरकारी अधिकारी हो। कहीं पुलिस में ही न हो। किसी राजनीतिज्ञ का साला भी हो सकता है; और किसी बदमाश का मित्र भी। ... मैं व्यर्थ ही उसे छेड़ बैठा था। मुझे क्या पड़ी थी कि ओझाजी के फूलों की रक्षा के लिए उससे उलझ पड़ा। फूलों को तो वैसे भी मुरझाकर गिर ही जाना था। ...

उसने मुझे चुप देखा तो पराजित मानकर और धमकाया, "अब बोलते क्यों नहीं? मैं चोर हूँ क्या?"

पर अब तक मुझे भी ईश्वर की ओर से कुछ सत्प्रेरणा मिल चुकी थी। बोला, "नहीं, तुम चोर नहीं हो। तुम कुछ बड़ी चीज हो। भगवान ने जो फूल ओझाजी की बाड़ी में खिलाये हैं; तुम उन्हें तोड़ने का दुस्साहस कर भगवान की इच्छा का उल्लंघन भी कर रहे हो; और मुझसे लड़ भी रहे हो। इससे स्पष्ट है कि तुम चोर नहीं, डाकू हो। तुम्हारे ही भय से मेरे मुहल्ले में फूल खिलने से डरते हैं।" ❑❑❑

बाहर न जाऊँगा। तेरी अन्तरात्मा में जो शीतल जल का स्रोत है, उसी को मैं खोल दूँगा, जिससे तेरे जीवन में पावनता आ जाएगी। यह निर्मल प्रवाह तुझे प्रतिपल मिलता रहेगा। तू उसकी इच्छा कर और अपने आपमें ढूँढ़ने की चेष्टा कर। तेरी आत्मा तेरे अन्दर ही समाई हुई है।''

इतने में उसी गाँव के निवासी ईसा के दो शिष्य वहाँ आ पहुँचे। प्रभु को देखकर उन्होंने श्रद्धावनत हो उन्हें प्रणाम किया। वे बोले, ''प्रभो, आपने हमारे गाँव में आकर इसे पवित्र कर दिया।'' स्त्री को जब पता चला कि ये तो कोई महात्मा हैं, तो उसे पछतावा हुआ कि उसने व्यर्थ ही एक देवतुल्य व्यक्ति का अनादर किया। पश्चात्ताप-दग्ध वह स्त्री ईसा के चरणों में गिर पड़ी और उनसे क्षमा-याचना की।

ईसा ने उस स्त्री से कहा, ''हमारा जीवन निर्मल पानी की तरह है। जो इसे सही ढंग से जी लेता है, उसे फिर मृत्यु का भय नहीं रहता। वह हमेशा के लिए तृप्त हो जाता है। तू अपने अन्दर छिपे हुए ईश्वर को पहचानकर उसकी इच्छा का अनुसरण कर। जिस दिन तेरे हृदय का सत्य जाग्रत हो जाएगा, उस दिन से तू सबको अपने समान समझने लगेगी।''

(३) जिय हिंसा जग में बुरी

महावीर स्वामी एक बार एक गाँव में पहुँचे। परदेसी जानकर कुछ उच्छृंखल लोगों को उन पर मजा लेने की सूझी। एक व्यक्ति ने पीछे से आकर उन्हें धक्का दिया। महावीर थोड़ा आगे बढ़ गये, मगर गिरे नहीं। यह देख उसने उन्हें पीटना शुरू किया, मगर वे शान्त ही रहे। तब उसका एक साथी आगे आया और बोला, ''अरे, इस पर कोई असर नहीं हो रहा है, यह तो बेजान मालूम पड़ता है। जरा देखूँ तो इसमें जान है भी या नहीं।'' और उसने समीप ही पड़ी एक कील और एक पत्थर उठाया और कील को महावीर स्वामी के कान में ठोकने लगा। मगर वे निश्चल ही रहे। कील तो नीचे गिर गई, लेकिन उस व्यक्ति के हाथों में दर्द होने लगा।

अब तक वहाँ बहुत-से लोग इकट्ठे हो गये थे। उनमें से एक व्यक्ति को यह देख आश्चर्य हुआ कि यह आदमी भी कितना अजीब है कि जरा भी प्रतिकार नहीं कर रहा है और न ही इस दुष्ट व्यक्ति के साथ 'जैसे-को-तैसा' का व्यवहार कर रहा है। महावीर ने उस व्यक्ति के मन के विचारों को ताड़ लिया। वे उससे बोले, ''आप जो यह सोच रहे हैं कि इस व्यक्ति ने मुझे अकारण पीटा है, वह सही नहीं है। इसके मन में मुझे पीटने का कोई कारण उत्पन्न हुआ होगा, इसीलिए उसने ऐसा किया। मैंने भी सोचा कि जब यह व्यक्ति मुझे अकारण नहीं मार रहा है, तो मैं इसे सहन क्यों न करूँ। यदि इसने मेरे स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को पीटा होता, तो शायद उसने सहन नहीं किया होता और इसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती। इसकी हिंसा का प्रत्युत्तर न देनेवाला मुझसे बेहतर व्यक्ति शायद कोई दूसरा न मिला होता। इसीलिए भगवान ने उसे मुझे पीटने के लिए प्रवृत्त किया होगा।''

महावीर ने कहा, ''हमारे मन के भीतर जो भी शक्तियाँ दबी होती हैं, उन्हें दबे नहीं रहने देना चाहिए। यदि उन्हें बाहर बिखेर दिया जाए, तो वृत्ति से छुटकारा पाना आसान हो जाता है। हिंसा की वृत्ति के अलावा हमारे भीतर और भी बहुत-सी वृत्तियाँ दबी होती हैं। किन्तु हमें हिंसा-वृत्ति को दबी नहीं रहने देना चाहिए, उसका उपयोग करना चाहिए। जिस व्यक्ति ने हिंसा को जान लिया, उसकी हिंसा वृत्ति का बाहर आना जरूरी हो जाता है।''

जिन व्यक्तियों ने महावीर स्वामी को तंग करने की सोची थी, उन पर इसका गहरा असर हुआ। उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। उन्होंने भगवान महावीर से माफी माँगी और प्रतिज्ञा की कि वे जीवन भर अहिंसक बने रहेंगे।

(४) तन ते कर्म करहु विधि नाना

सन्त फ्रान्सिस बूढ़े हो गये थे। उनका अन्तिम समय आ पहुँचा था। उनकी वाणी बन्द हो गई थी और वे आँखें बन्द किये हुए थे। उनके शिष्य वहाँ इकट्ठे हो गये और भगवान से उनकी दीर्घायु की कामना करने लगे। सहसा सन्त ने आँखें बन्द किये ही बुदबुदाना शुरू किया – ''हे प्रभो, तू सचमुच धन्यवाद का पात्र है, जो तूने जीवन भर मेरा साथ निभाया। मैंने अपने जीवन में अच्छे और बुरे दोनों कर्म किये, पर तूने हर कर्म में मेरा साथ दिया। तूने यह कभी नहीं सोचा कि बुरे कर्मों से मेरी अधोगति होगी और मुझे नरक के द्वार से गुजरना होगा। लेकिन क्या करूँ, खेद की बात है कि मुझे तुझ उपकार करनेवाले को छोड़कर जाना पड़ रहा है।''

शिष्यों ने जो सुना, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि गुरुदेव आखिर बात किससे कर रहे हैं! उनकी दृष्टि भी किसी तरफ नहीं थी। कुछ ने सोचा कि शायद इन्हें सन्निपात हो गया है, जो आप-ही-आप बड़बड़ा रहे हैं। आखिर एक ने पूछ ही लिया, ''क्षमा करें गुरुदेव, आप किससे बातें कर रहे हैं?''

फ्रान्सिस ने उत्तर दिया, ''मैं अपने शरीर से बात कर रहा हूँ, जिसने जीवन भर मेरा साथ दिया। इतना ही नहीं जब-जब इसने मुझसे शिकायत की, मैंने क्रोधित हो इसे बुरा-भला कहा है। अब इस दुनिया को छोड़कर जाने का मेरा समय आ गया है और मुझे इस शरीर से अलग होना पड़ रहा है। इसलिए यदि आखिरी वक्त भी मैं इसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त नहीं करूँ, तो मुझसे बड़ा कृतघ्न दूसरा कोई नही होगा। अत: इसे धन्यवाद देना मैं अपना फर्ज समझता हूँ। इस शरीर ने मेरे लिए जो कष्ट उठाये हैं, उसकी भरपाई आभार-प्रदर्शन से ही हो सकती है।''

❖ (क्रमशः) ❖

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (५)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

अध्याय ६

प्रवृत्ति-मार्ग

यह संसार कितना सुन्दर है! इसमें हमारे भोग के लिए कितने मधुर पदार्थ भरे पड़े हैं। प्रतिक्षण चारों ओर से रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श का सप्रेम आमंत्रण प्राप्त होता रहता है। हम उन्हें प्राप्त करके भोग करना चाहते हैं और हमारी यह भोग की कामना निरन्तर बढ़ती ही जाती है।

फिर, उच्चतर तथा सूक्ष्मतर लोकों में इनसे भी अनन्त-गुना अधिक आकर्षक वस्तुएँ हैं। कल्पना कीजिए कि एक विद्वान्, आशावादी, सुदृढ़ तथा सच्चरित्र युवक इस सम्पूर्ण पृथ्वी का स्वामी तथा इसकी सारी भोग-सम्पदा तथा ऐश्वर्यों का एकाधिकारी है। क्या उसके सुखों का अनुमान लगाया जा सकता है? परन्तु इस काल्पनिक युवक के सारे सुख भी उस सूक्ष्म लोकों के आनन्द की तुलना में बिल्कुल तुच्छ लगते हैं। पितृलोक में उसके सुख का दस लाख गुना सुख प्राप्त होता है, फिर देवलोक में उसके भी दस लाख गुना सुख मिलता है और ब्रह्मलोक में उस देवलोक के भी दस लाख गुना सुख की उपलब्धि होती है। हिन्दू-शास्त्रों में इसी प्रकार विभिन्न लोकों के सुखों के तारतम्य का वर्णन है।[१]

शास्त्रों से इन सारी बातों को जान लेने के बाद हम सूक्ष्म लोकों के अतुलनीय सुख-भोगों के लिए व्यग्र हो उठते हैं और इस प्रकार हमारा मन इस स्थूल तथा सूक्ष्म लोकों की अत्यन्त रमणीय वस्तुओं को पाने के लिए अदम्य कामना जाग उठती जाती है।

इन समस्त कामनाओं की पूर्ति के लिए हमारे शास्त्रों ने जो मार्ग बताया है, उसी को प्रवृत्ति-मार्ग कहते हैं। हिन्दू-शास्त्र हमें अपनी कामनाओं को चुनना सिखाते हैं। कुछ कामनाएँ अच्छी हैं और कुछ बुरी। कुछ कामनाएँ बुरे कर्मों में प्रवृत्त करती हैं और उनके परिणाम-स्वरूप अनिवार्य फल के रूप में दु:ख ही प्राप्त होता है। सुखी होने के लिए इस प्रकार की कामनाओं का त्याग करना होगा। झूठ बोलना, चोरी करना, धोखा देना, दूसरों को कष्ट पहुँचाना आदि बुरे कर्म हैं; इनके अवश्यम्भावी फलस्वरूप हमें तरह-तरह के दु:ख तथा पीड़ाएँ झेलनी पड़ती हैं। इसीलिए बुरे कर्मों में लिप्त होना उचित नहीं। जो कामनाएँ ऐसे कर्मों में प्रवृत्त करती हैं, वे सर्वथा त्याज्य हैं। परिणाम में दुखदायी ऐसे सभी कर्मों को हिन्दू शास्त्रों में निषिद्ध कर्म कहा गया है। जो लोग इस जीवन तथा परलोक में सुख पाना चाहते हैं, उन्हें कभी शास्त्र के इन निषेधों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

हिन्दू शास्त्रों ने जैसे निषिद्ध-कर्मों से मना किया है, वैसे ही उन्होंने कुछ पुण्य-कर्मों का विधान भी किया है। क्योंकि इन पुण्य-कर्मों के सुनिश्चित फल के रूप में सुख प्राप्त होता है। जब तक हम प्रवृत्ति-मार्ग पर चलते हैं, तब तक हमें शास्त्रों के इन निर्देशों का जी-जान से पालन करना होगा।

अब इन पुण्य-कर्मों का स्वरूप क्या है? एक वाक्य में कहें, तो पुण्य-कर्म वह है जो हमें उत्तरोत्तर नि:स्वार्थता की ओर ले जाता है। ऐसे कर्म ही परिणाम में सुखद होते हैं। वर्तमान स्वार्थ-त्याग के द्वारा ही भविष्य के सुखों की कीमत चुकानी पड़ती है। स्वार्थ-त्याग की प्रत्येक चेष्टा ही मानो एक बलिदान है। शास्त्रों में जिसे यज्ञ कहा गया है, उसका वास्तविक तात्पर्य है – अपने स्वार्थों की बलि देना।

पंच-यज्ञ

हिन्दू-शास्त्रों में सबके लिए पाँच यज्ञों का विधान मिलता है – देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ, नृयज्ञ तथा भूतयज्ञ। इन पाँच तरह के यज्ञों के यथाविधि अनुष्ठान के द्वारा देवताओं, पितृपुरुषों, तत्त्वद्रष्टा शास्त्रकार ऋषियों, समस्त मनुष्यों तथा अन्य जीव-जन्तुओं को बलि के द्वारा तृप्त करना हम लोगों का कर्तव्य है। शास्त्र का निर्देश है कि हम सभी अपने-अपने भण्डार का कुछ अंश विश्ववासियों के लिए उत्सर्ग करें। यही स्वार्थ की बलि है और यही भावी सुख-प्राप्ति का मूल्य है।

स्तव-स्तुति, पूजा-पाठ आदि से देवतागण प्रसन्न होते हैं। इसी का नाम देवयज्ञ है। देवता हमारी ही तरह के जीव हैं, परन्तु उनकी स्थिति हम लोगों से काफी ऊँची है। कभी वे मनुष्य ही थे। पृथ्वी पर पुण्य-कर्म करने के फलस्वरूप उनका देवलोक में जन्म हुआ। वे हम लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक शक्तिमान हैं। प्रकाश, ताप, विद्युत्, वर्षा, वायु आदि भौतिक शक्तियों पर उन्हीं का प्रभुत्व है। हमारी पूजा से तुष्ट

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, २/८/१-४

होकर वे इन शक्तियों को हमारे अनुकूल बनाकर हमारी कामनाओं की पूर्ति करते हैं।

हमारे बहुत से पूर्वज पितृलोक में निवास करते हैं। वे हमारे प्रति स्नेह-भाव रखते हैं। यदि हम उन लोगों का स्मरण तथा उनके लिए तर्पण करते हैं, तो वे तृप्त होते हैं और यही पितृयज्ञ है। हम लोगों की अपेक्षा ये भी काफी अधिक शक्तिमान हैं, तृप्त पूर्वजों की शुभ-कामना से हम सहज ही अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकते हैं।

परन्तु ऋषिगण हमसे किसी भौतिक पूजा की अपेक्षा नहीं करते। हमारे नियमित रूप से शास्त्र-पाठ और संध्या-वन्दन आदि करने से ही वे प्रसन्न हो जाते हैं; अत: ऋषियों के प्रिय नित्य-कर्मों के लिए हमें प्रतिदिन थोड़ा-सा समय निकालना चाहिए। इसीलिए इसे ऋषियज्ञ कहते हैं। ऋषियों के सन्तुष्ट होकर आशीर्वाद देने से हमारा मंगल होता है।

ऋषियज्ञ के बाद चौथा है नृयज्ञ अर्थात मानव-यज्ञ। अभाव या विपत्ति में पड़े लोगों की सेवा करना हमारा कर्तव्य है। हमें उनके कष्टों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी को नृयज्ञ कहते हैं। दुखी-पीड़ितों की सेवा ईश्वर की वास्तविक सेवा है। वे ही असंख्य रूपों में विद्यमान हैं। इस प्रकार पीड़ित नर-नारियों की सेवा से सन्तुष्ट होकर भगवान हमारी कामनाओं को पूरा करते हैं।

भूतयज्ञ के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। हमें अपने भोजन का एक अंश पशु, पक्षी, कीट-पतंगों के लिए अर्पित कर देना चाहिए। इसी को भूतयज्ञ कहते हैं और इस यज्ञ के फलस्वरूप भी हम सुख के अधिकारी होते हैं।

प्रथम दो यज्ञ अनुष्ठान-प्रधान और अन्तिम दो यज्ञ दान-प्रधान माने गए हैं। इन चारों को एक साथ मिलाकर इष्टापूर्त[२] कहते हैं।

वर्णाश्रम-धर्म

प्रत्येक हिन्दू को पंचयज्ञ के अतिरिक्त अपने जीवन-स्तर तथा सामाजिक विभाग के अनुसार कुछ निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। इन्हीं को वर्णाश्रम-धर्म कहते हैं। हिन्दू का जीवन चार स्तरों से होकर गुजरता है। इन्हें क्रमश: ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम कहते हैं। प्रत्येक आश्रम के कुछ विशेष कर्तव्य निर्धारित हैं। फिर हिन्दू समाज के भी चार विभाग हैं और उनमें से प्रत्येक के लिए भी अलग-अलग कर्तव्य निर्धारित हैं। इन विभागों को सामान्य रूप से वर्ण कहते हैं। हिन्दू समाज – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र – इन चार वर्णों में विभाजित है।

ब्राह्मण के विशेष कर्म हैं – यज्ञ करना तथा कराना, अध्ययन और अध्यापन। पवित्र एवं आडम्बरहीन जीवन बिताना उनका शास्त्र-विहित कर्तव्य है। क्षत्रिय का निर्दिष्ट कर्म है – राज्य-शासन तथा युद्ध करना। हिन्दू शास्त्रों का विधान है कि क्षत्रिय अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करके दुष्टों का दमन, शिष्टों का पालन और दीन-दुखियों की रक्षा के लिए अस्त्र धारण करें। कृषि, उद्योग, व्यवसाय आदि वैश्य के कर्म हैं। लोभ, जाल-फरेब आदि बुरी प्रवृत्तियों को संयमित करके उद्योग-व्यवसाय आदि करना और यथाशक्ति दान करना वैश्य-धर्म है। आलस्य, दुष्टता आदि त्याग कर श्रमिक का काम करना शुद्र का धर्म है।

इस लोक तथा परलोक में सुखी होने के लिए सभी लोगों को अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करना होगा। प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक विभाग (वर्ण) तथा जीवन-स्तर (आश्रम) के अनुसार निर्दिष्ट कर्म ही उसका स्वधर्म है।

अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए पंचयज्ञ तथा वर्णाश्रम-धर्म द्वारा अनुमोदित कर्म करने के अतिरिक्त भगवान की पूजा तथा प्रार्थना भी करनी चाहिए। भगवान ही कर्मों के फल प्रदान करते हैं। यथाविधि अपने कर्तव्य करते हुए उनसे हार्दिक प्रार्थना करने पर वे हमारी अभिलाषाएँ पूरी करते हैं। इतना जरूर है कि इच्छित वस्तु को पाने के लिए हमें भी यथासाध्य चेष्टा करनी पड़ेगी। ऐसा करने पर ही भगवान हमारी आन्तरिक प्रार्थना पूर्ण करते हैं।

प्रवृत्ति-मार्ग के साधक सत्य, अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना) आदि नैतिक अनुशासनों का पालन करते हुए पंचयज्ञ, वर्णाश्रमों के कर्तव्य और ईश्वर की पूजा-उपासना करते रहें – यही हिन्दू शास्त्रों का विधान है।

यज्ञ के द्वारा हमें त्याग और सेवा की शिक्षा मिलती है। पंचयज्ञ के द्वारा व्यक्ति अपने से उच्चतर तथा निम्नतर सभी प्राणियों से प्रेम करना और उनकी सेवा करना सीखता है। प्रत्येक प्राणी में प्रेममय भगवान विद्यमान हैं, इसलिए पंच-यज्ञों का सम्पादन करने के फलस्वरूप क्रमश: हम लोग स्वार्थपरता के संकीर्ण पिंजरे से मुक्त होकर प्रेम और ज्ञान-स्वरूप भगवान की ओर अग्रसर हो सकते हैं। यज्ञ के फल-स्वरूप सुख तो मिलता ही है, इसके अतिरिक्त उससे मन भी पवित्र होता रहता है और अज्ञान का अँधेरा दूर होता जाता है। वर्णाश्रम-धर्म द्वारा अनुमोदित कर्मों के पालन से भी मन की मलिनता काफी कम हो जाती है। इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे जड़ता दूर हो कर जाती है और काम-क्रोध आदि रिपु नियंत्रण में आ जाते हैं। परन्तु ईश्वर-चिन्तन ही चित्तशुद्धि का सबसे सहज उपाय है। उनका ध्यान-चिन्तन करते ही मन पवित्रता से परिपूर्ण हो जाता है।

२. इष्ट = यज्ञ आदि का अनुष्ठान; पूर्त = जनहित के कार्य, यथा कुंआ खुदवाना, आदि

अध्याय ६

प्रवृति मार्ग (क्रमशः)

इसका वर्तमान रूप

अब तक हमने देखा कि हिन्दू लोग किस प्रकार इस लोक तथा परलोक में सुख-भोग की प्राप्ति के लिए प्रयास करते थे। यद्यपि प्राचीन हिन्दू लोग ऐहिक तथा पारलौकिक सुख-भोगों को प्राप्त करने लिए ही इस मार्ग पर चलते थे, तथापि इसका वास्तविक लक्ष्य था – संयम, त्याग, सेवा तथा भगवद्-भक्ति के द्वारा क्रमशः मनःशुद्धि करना।

यह एक चिरन्तन सत्य है कि थोड़ा-सा भी नैतिक तथा आध्यात्मिक संस्कार होने से ही जागतिक तथा पारलौकिक सुखों का अधिकारी हुआ जा सकता है। प्राचीन ऋषि इस सत्य का आविष्कार कर गये हैं और प्रवृत्ति-मार्ग इसी पर प्रतिष्ठित है। प्राचीन काल की भाँति ही आज भी यह सत्य उतना ही प्रभावी है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं।

परन्तु एक बात जरूर ध्यान देने योग्य है। कालक्रम से हिन्दू धर्म की छोटी-मोटी बातों में काफी रूपान्तरण आ गया है। प्रवृत्ति-मार्ग के मूल तत्त्व अब भी पूर्ववत् सुरक्षित हैं, पर साधना की पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन आ गया है।

उदाहरण के लिए देवयज्ञ की ही बात ली जाय। प्राचीन काल में हिन्दू लोग विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति किया करते थे और शास्त्रविहित मंत्रपाठ करते हुए अग्नि में दही, घी आदि की आहुति दिया करते थे। ये सब स्तुतियाँ, मंत्र तथा अनुष्ठान-प्रक्रिया वेदों से प्राप्त की जाती थीं।

आजकल हम लोग सामान्यतः धूप-दीप, फल-फूल तथा मिठाइयों के द्वारा ही देव-पूजन किया करते हैं। उस समय हम जिन स्तोत्रों तथा मंत्रों का पाठ करते हैं, वे भी पूर्णतः भिन्न प्रकार के होते हैं। फिर हम अपने आराध्य देवी-देवता की मूर्ति या प्रतीक[१] बनाकर उसके सम्मुख अपनी पूजा अर्पित करते हैं। हमारे वैदिक पूर्वज ऐसा नहीं करते थे। आज प्रचलित पूजा-विधियाँ तथा मंत्र परवर्ती काल के शास्त्रों (सामान्यतः तंत्रों) से लिए गये हैं।[२] यज्ञ में आहुति-दान अब किसी-किसी पूजा के अंगमात्र में परिणत हो गया है। वैसे अब भी कोई-कोई किसी विशेष कामना के साथ पुत्रेष्टि-यज्ञ के समान किसी-किसी वैदिक यज्ञ का अनुष्ठान किया करते हैं।[३]

इन्द्र, वायु, वरुण, मित्र तथा अश्विनीकुमार आदि वैदिक देवताओं को लोग प्रायः भूल ही गए हैं। केवल कुछ विशेष पूजा-पर्वों के समय ही उनका स्मरण किया जाता है। वैदिक देवतागण काफी काल पूर्व ही सूर्य, गणपति, विष्णु, शिव तथा शक्ति – इन पंच-देवताओं के समक्ष हीनप्रभ हो गए थे। अब इन्हीं रूपों में ईश्वर की पूजा प्रचलित है। पंच-देवताओं से क्रमशः सौर, गाणपत्य, वैष्णव, शैव एवं शाक्त – इन पाँच सम्प्रदायों का विकास हुआ। हर सम्प्रदाय अपनी अपनी मूर्ति में ईश्वर की आराधना करता है। वर्तमान युग में अन्तिम तीन सम्प्रदायों का ही प्राधान्य दीख पड़ता है।

प्राचीन काल से ही हिन्दुओं का दृष्टिकोण एकत्व-मूलक था। वे जानते थे कि ईश्वर एक हैं। उन्हें साकार या निराकार – किसी भी भाव से पूजा जा सकता है। वे ही कर्मफल देते हैं। सत्पथ पर चलते हुए उससे प्रार्थना करने पर, वे हमारी कामनाएँ पूर्ण करते हैं। विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने हेतु पूजा-अर्चन न करके सीधे ईश्वर से ही प्रार्थना की जा सकती है। तब देवयज्ञ के लिए अन्य कुछ करने की जरूरत नहीं रह जाती।[४] इसीलिए अब कालक्रम से देवयज्ञ की जगह साकार या निराकार ईश्वर की पूजा प्रचलित हो गई है।

अब वर्णाश्रम-धर्म पर थोड़ी चर्चा कर लें। सनातन हिन्दू समाज अब बिल्कुल ही बदल चुका है। प्राचीन हिन्दू समाज गुणों तथा कर्मों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र – इन चार वर्णों में विभक्त था।[५] प्रत्येक वर्ण के कुछ विशेष कर्तव्य निर्धारित होते थे। परन्तु अब उनके स्थान पर सैकड़ों जातियाँ तथा उपजातियाँ बन गयी हैं। जातियाँ अब वंशगत हो चुकी हैं और गुण-कर्मों के अनुसार वर्ण-विभाग का अब कोई चिह्न तक नहीं मिलता। वर्तमान हिन्दू समाज में विशुद्ध ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय अब अति विरल हैं। इस समय जातियाँ केवल विवाह, भोजन तथा स्पर्श आदि कुछ निषेधात्मक सामाजिक आचारों के आधार पर ही बची हुई हैं। असवर्ण विवाह नहीं चलता है। विभिन्न जातियों के लोग एक साथ बैठकर भोजन नहीं करते और किसी-किसी जाति को स्पर्श करना तक निषिद्ध है।[६] यह अस्पृश्यता हिन्दू समाज का कलंक बन चुकी है। इस व्यवस्था में मनुष्य ने मनुष्य से घृणा करना सीखा है। इसके फलस्वरूप हम अपने विश्वप्रेम के उच्च आदर्श से काफी पतित हो चुके हैं। वर्णाश्रम का असल उद्देश्य चित्तशुद्धि था, परन्तु वर्तमान जाति-विभाग का फल इसके ठीक विपरीत है। जातियों को यदि जीवित रहना है, तो आपसी घृणा का भाव पूरी तौर से दूर कर देना होगा। जाति-विभाग से जो कट्टरता पैदा हुई है, उसमें हिन्दू समाज का न तो व्यष्टिगत हित है और न समष्टिगत।

---

१. यथा विष्णु का प्रतीक है – शालग्राम-शिला या शिव का प्रतीक है – शिवलिंग। इस पर ग्यारहवें अध्याय में विवेचन होगा।

२. इस पर ग्यारहवें अध्याय में विवेचन होगा।

३. स्वामी दयानन्द जी द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने विशुद्ध वैदिक यज्ञ आदि को पुनः प्रचारित किया है।

४. वैसे सगायत्री संध्या-वन्दन आदि नित्य-कर्म अब भी प्रचलित हैं।

५. गीता, ४/१३

६. वैसे अब अवस्था काफी बदल चुकी है।

प्राचीन हिन्दू समाज में व्यष्टिगत जीवन के लिए ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास – एक के बाद एक इन चार आश्रमों से होकर चलना आवश्यक था। वस्तुतः ये आश्रम आध्यात्मिक उन्नति के लिए निर्धारित क्रमिक साधना के चार स्तर थे। प्राचीन हिन्दू समाज की इस व्यवस्था से ज्ञात होता है कि प्राचीन हिन्दू का सम्पूर्ण जीवन ही आध्यात्मिक उन्नति के लिए एक अविराम प्रयास था। उनका पूरा जीवन ही इसी महान् उद्देश्य के सुर में झंकृत हुआ करता था।

समाज की वह व्यवस्था त्रुटिहीन थी। व्यक्ति के जीवन को सार्थक बनाना ही उसका उद्देश्य था। इन चार आश्रमों की शिक्षा से समाज-विरोधी प्रवृत्तियाँ संयत रहती थी और व्यक्ति तथा समाज के जीवन का सर्वांगीण कल्याण होता था।

वर्तमान हिन्दू समाज में अब सामान्यतः केवल गृहस्थाश्रम ही दीख पड़ता है। उसमें भी आश्रमोचित धर्म का बन्धन बिल्कुल ही शिथिल हो गया है। छात्र-जीवन अब ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत नहीं आता। संन्यास आश्रम अब भी है, परन्तु केवल प्रचलित व्यवस्था के अपवाद के रूप में।

वर्णाश्रम धर्म की इस दुर्गति से समझा जा सकता है कि वर्तमान हिन्दू समाज का कितना अधःपतन हो चुका है। आध्यात्मिक जीवन के प्रति हम बिल्कुल ही उदासीन हैं। हमारी दृष्टि केवल सांसारिकता में निबद्ध है। स्वधर्म या कर्तव्य-पालन के स्थान पर हम अपने अधिकारों के विषय में दिन-पर-दिन अधिकाधिक सचेत होते जा रहे हैं। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए धर्मपथ पर चलने की जरूरत का हमें बिल्कुल भी बोध नहीं होता। इच्छित वस्तु को पाने के लिए हम दावा करते और लड़ते तक हैं। हमारा आज का जीवन-मंत्र है – योग्यतम की अतिजीविता।[७] परन्तु यह तो पशु-जगत् का एक स्वाभाविक नियम है; जिस समाज का लक्ष्य आध्यात्मिक विकास है, उसमें यह नहीं लागू होता।

आसुरी भावों के इस आक्रमण से प्राचीन हिन्दू-जीवन की मूल-व्यवस्था विच्छिन्न हो गई है। धर्म-साधना रूपी हिन्दू जीवन का मूल आधार अब क्रमशः लुप्त-सा हो गया है।

जैसा इसे होना चाहिए

हम आध्यात्मिक अवनति की एक शोचनीय दशा में आ पड़े हैं। हिन्दू समाज को बचाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि हम लोग पहले की ही भाँति शास्त्रों में आस्थावान हों और प्राचीन भावधारा तथा आदर्शों के अनुसार इसे नये रूप में गढ़ डालें। इस नव-गठन का अर्थ केवल इतना ही है कि प्राचीन आचारों को वर्तमान युग के हिसाब से रूपान्तरित कर लेना होगा। इस समय यही हमारा एकमात्र कर्तव्य है।

समाज को पुनः पूर्ववत् चार वर्णों में गठित करना सम्भव नहीं। पर अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार वर्ण-धर्म का पालन अवश्य हो सकता है और वैसा ही करना चाहिए। उदाहरण के लिए जो धर्म-प्रचारक या पुरोहित का व्रत स्वीकार करें, उन्हें शास्त्रों में बताये गए ब्राह्मणोचित गुणों को अपनाना होगा और जो आजीविका के लिए सैनिक बनना चाहें, उन्हें शास्त्र-विहित क्षात्रधर्म का पालन करना होगा। फिर जो वैश्य या शूद्र की वृत्ति ग्रहण करें, उनके लिए भी यह बात वैसे ही ग्रहणीय है। वैसे छोटी-मोटी चीजों को आज की जरूरतों के अनुसार परिवर्तन कर लेने में कोई बाधा नहीं है।

इसके बाद इस समय लुप्त हो चुकी चतुराश्रम-व्यवस्था का भी यथाशीघ्र पुनरुद्धार करना होगा। हम इस महामूल्य रत्न को खो चुके हैं। यदि प्रथम तीन आश्रम शीघ्र स्थापित न हों, तो हिन्दू समाज निस्सार होकर ध्वंस को प्राप्त होगा। चतुर्थ आश्रम को व्यक्ति की रुचि पर छोड़ा जा सकता है।

हिन्दू बालक-बालिकाओं के लिए ब्रह्मचर्य आश्रमोचित शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी। वर्तमान शिक्षा-संस्थाओं को गुरुकुल के आदर्श पर पुनर्गठित होना होगा। छात्र-छात्राओं को सनातन आदर्शों में अनुप्राणित करना ही इन संस्थाओं का विशेष कर्तव्य होगा। व्यावहारिक विद्या के साथ आध्यात्मिक शिक्षा की भी व्यवस्था करनी होगी।[८] आध्यात्मिक नींव पर चरित्र-गठन ही समग्र भारतीय शिक्षा-धारा का वैशिष्ट्य होगा।

इस प्रकार की शिक्षा के प्रभाव से व्यक्ति में गृहस्थ-धर्म का पालन करने की योग्यता आयेगी और आगे चलकर उसे वानप्रस्थ आश्रम अपनाने में कोई पीड़ा नहीं होगी।

निःसन्देह वर्णाश्रम-धर्म के बाह्य स्वरूप में अनेक परिवर्तन हुए हैं, परन्तु उसका मूल नैतिक अनुशासन यथावत् बना हुआ है। प्रवृत्ति-मार्ग के साधक को आज भी सच्चिन्तन तथा सत्कर्म में निष्ठा रखनी होगी। सत्पथ पर चलना ही उसकी साधना है। मन-वाणी तथा कर्म से सत्य-पालन, देह तथा मन की शुद्धता की रक्षा आदि उसका अवश्य पालनीय धर्म है। उसे हिंसा, छल-कपट आदि बुरी प्रवृत्तियों का निश्चित रूप से दमन करना होगा। विषय-भोग में अत्यधिक आसक्ति उसके लिए अनुचित होगा और इसीलिए उसे इन्द्रियों को वश में लाने की यथासाध्य चेष्टा करनी ही होगी।

इस प्रकार नैतिक जीवन-गठन करने की चेष्टा के अलावा आज के प्रवृत्ति-मार्गी को वर्तमान रीति के अनुसार देवयज्ञ व पितृयज्ञ भी करने होंगे। इसके साथ प्राचीन परम्परा के बाकी तीन यज्ञ और वर्तमान युगोपयोगी वर्णाश्रम धर्म भी रहेगा।

प्रवृत्ति-मार्ग का वर्तमान स्वरूप ऐसा ही होना चाहिए।

❖ (क्रमशः) ❖

७. Survival of the fittest.

८. मुण्डक उपनिषद्, १/१/४

आत्माराम की आत्मकथा (८)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य द्वारा इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमशः प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

गर्मी से बड़ा कष्ट होने के कारण मेरी टिहरी जाकर रहने की प्रबल इच्छा हुई। निश्चय किया कि उसी दिन (शनिवार को) पैदल रवाना होऊँगा। दोपहर को खूब आँधी और थोड़ी बूँदा-बादी हुई। सबने मना किया। पर विधि का विधान कौन टाल सकता है ! मैं शाम को चार-साढ़े चार बजे टिहरी की ओर चल पड़ा। ऋषीकेश से सात मील दूर यहाँ के भरत-मन्दिर के महन्त का ग्राम (देवभोग) है – ठीक किया कि वहाँ दो-एक दिन विश्राम करके टिहरी चला जाऊँगा। जंगल की ऊबड़-खाबड़ पगडण्डियों पर यथासम्भव तेजी से चलने लगा। उस जंगल में बाघ, भालू, हाथी, सूअर आदि कई तरह के जंगली पशु हैं। रास्ते में हिरण और सूअर बारम्बार दीख पड़ते थे। परन्तु भाग्यवश सूअरों ने मुझ पर आक्रमण नहीं किया। कृष्ण-पक्ष चल रहा था और संध्या हो गई थी और शायद उस दिन अमावस्या थी। तब भी वह देवभोग ग्राम नहीं आया था। जंगल घना होता जा रहा था। इतने में देखा कि भैंस के एक बड़े बच्चे के समान कोई पशु उसी पगडण्डी पर चला आ रहा था। ग्राम की बात मन में रहने के कारण सोचा कि भैंस का पाड़ा ही होगा और मैं ग्राम के निकट पहुँच गया हूँ। पन्द्रह-बीस हाथ का फासला रह जाने पर पता चला कि वह एक विशाल भालू है। स्तब्ध होकर मैं वहीं ठहर गया और भालू भी चुपचाप खड़ा होकर मेरी ओर देखने लगा। बिजली के जैसा एक प्रवाह शरीर से होकर गुजर गया और मैं जड़वत् निश्चल होकर अन्त काल समीप जान जप करना शुरू कर दिया। क्षण भर में ही मन में यह विचार कौंध गया – "माँ की शायद यही इच्छा थी, इसीलिए सबके मना करने के बावजूद मैं मौत के मुँह में कूद पड़ने के लिए ही इधर चला आया था। उनकी इच्छा पूर्ण हो।"

भालू अब आक्रमण करने ही वाला है – ऐसा सोच मैं मृत्यु के लिए प्रस्तुत होकर खड़ा रहा। उस समय मन में सूक्ष्म रूप से ऐसा एक भाव था कि मृत्यु का भय दूर हो गया था। ... परन्तु भालू ने कुछ भी नहीं किया और सहसा ही रास्ता छोड़ दौड़कर जंगल की ओर चला गया। काफी देर तक मैं सूखे पत्तों की खड़खड़ाहट सुनता रहा। मैंने सोचा कि अब भी भोग बाकी हैं और उसी रास्ते पर आगे चलने लगा। इसके सिवा अन्य कोई उपाय भी तो नहीं था, क्योंकि रास्ता ज्ञात न था और ऋषीकेश लौटना असम्भव था। अँधेरा बढ़ता जा रहा था। बाघ की गर्जन, हिरनों का दिखना और सियारों का चिल्लाना यह बता रहा था कि स्थान भयानक है।

उपरोक्त घटना के बाद – आज मृत्यु निकट है – यह भावना मन में दृढ़ हो गयी थी और मन जगदम्बा के प्रति अभिमान से भर गया था – अब भी उनके दर्शन नहीं हुए हैं। गुरु के रूप में उनका 'आशीर्वाद' अभी तक फलप्रसू नहीं हुआ है और मेरा शरीर नष्ट होने ही वाला है। 'माँ, क्या मुझे भगवान का दर्शन होगा?' – मेरी इस कातर प्रार्थना पर श्रीमाँ ने मेरे सिर पर हाथ रखकर इन शब्दों में आश्वासन दिया था – "जरूर होगा, बेटा।" तो क्या वह निरर्थक आश्वासन मात्र था? बच्चे को बहलाने का बहाना मात्र था? यदि ऐसा ही हो, तो फिर इस दुनिया में और किस पर विश्वास किया जाय? यदि उस वाक्य का ऐसा अर्थ रहा हो कि – 'दर्शन होगा, पर इस जन्म में नहीं, अगले में', क्योंकि 'इसी जन्म में दर्शन होगा' – ऐसा तो उन्होंने कहा नहीं था, तो फिर क्या मैं समझूँ कि माँ ने सरल सत्य न कहकर, वक्र सत्य कहा था ! वह प्रार्थना करते समय मेरे मन का भाव इसी जन्म के सम्बन्ध में था, दूसरे जन्म की बात उसमें न थी, यह बात तो अत्यन्त साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है और श्रीमाँ यह न समझें, ऐसा हो ही नहीं सकता। अभिमान के अतिरेक से भाव का तूफान हृदय को आलोड़ित करने लगा।

मैं उसी सँकरी पगडण्डी पर अग्रसर हुआ। कृष्ण-पक्ष की संध्या थी, आकाश में कहीं-कहीं बादल छाये हुए थे और दो विशाल पहाड़ों के बीच बहती नदी ने मानो अपने प्रवाह से एक ही पहाड़ के वक्ष को चीरकर उसके दो भाग कर दिये थे। वह नदी अभी सूखी – प्राणहीन थी। वर्षाकाल में ही वह सजीव होती है। जंगल यहीं समाप्त हो गया था।

उस सूखी नदी के बीच पहुँचकर सोच रहा था – किधर जाऊँ, क्योंकि गाँव तो नहीं दीख रहा था और रास्ता नदी के गर्भ में पत्थरों के बीच और अन्धकार में विलीन हो गया था। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर दक्षिणी पहाड़ के शिखर पर आग जलती नजर आई और पहाड़ी पर एक घर भी दीख पड़ा। साथ में एक कुटिया भी। वहाँ रात्रि-निवास की इच्छा से मैं उसी ओर कोई पगडण्डी पाने की आशा में आगे चल पड़ा।

पत्थरों से ठोकरें खाते-खाते जूते फट गये थे। और पाँव के तलवों तथा नाखूनों में दर्द के कारण धीरे-धीरे सावधानी के साथ एक-एक कदम रखना पड़ रहा था। थोड़ी दूर आगे जाकर पहाड़ के कोने में नदी के दक्षिणी तट पर पानी का एक छोटा-सा कुण्ड पाकर आनन्द हुआ, क्योंकि बहुत प्यास लग रही थी। जी भरकर पानी पीने के बाद विश्राम करने के लिए एक पत्थर पर बैठ गया।

कुण्ड के पास से ही ऊपर जाने की पगडण्डी दीख रही थी। देखा कि नदी का पानी धीरे-धीरे आकर उसी कुण्ड में विलीन होता जा रहा है और कुण्ड से बाहर नहीं निकल रहा है। सम्भवत: किसी छिद्र से होकर पानी पृथ्वी के गर्भ में चला जा रहा है। इसीलिए कुण्ड का पानी न बढ़ रहा है और न घट रहा है – एक जैसा बना हुआ है। यह कुण्ड पहाड़ की गोद में है। उसके पास ही ऊपर जाने की पगडण्डी दीख रही है। पीतल के बड़े पात्र में पानी भरकर और उस आग की ओर दृष्टि रखकर पहाड़ पर चढ़ने लगा। पगडण्डी बहुत सँकरी थी और खेतों के बीच से गई थी। बीच-बीच में काँटे लगाये हुए थे। बड़े कष्ट से उस कुटिया तक पहुँचा।

वहाँ पहुँचकर देखा – आग के पास कुछ भैसें बँधी हुई हैं और एक पहाड़ी मुसलमान महिला उन्हें घास दे रही है। उस अँधेरी रात में सहसा एक गेरुआधारी हिन्दू संन्यासी के आ जाने से मानो थोड़ी भयभीत हुई और आने का कारण पूछा। बताया – "रास्ता भटककर इस ओर आ गया हूँ, टिहरी जाने की इच्छा है। और यदि तुम लोगों को कोई आपत्ति न हो, तो आज रात यहीं रहना चाहता हूँ। सुबह चला जाऊँगा।" – "खसम (पति) से पूछकर देखती हूँ, वे बीमार हैं और यहाँ दूसरा कोई नहीं है" – इतना कहकर वह घर के भीतर चली गई और अपने पति से पहाड़ी भाषा में मेरे रहने या न रहने के बारे में पूछने लगी। बाहर आकर बोली – "यहाँ जानवर (बाघ) का भय है, कहीं आपको कोई क्षति न पहुँचे! आप इसी रास्ते से पहाड़ के थोड़ा और ऊपर चले जाइये, वहाँ एक हिन्दू का घर है, आपको ठरहने में सुविधा होगी।" मैंने कहा – "हिन्दू-मुसलमान का भेद मेरे मन में नहीं है। मैं तुम्हारे घर के भीतर भी रहना नहीं चाहता – बस, इस आग के पास ही लेट जाऊँगा। यदि कोई हिंसक जन्तु मेरे शरीर को नुकसान भी पहुँचाए, तो इसके लिए खुदा के सामने तुम जिम्मेदार नहीं होगी। यदि तुम्हें आपत्ति न हो, तो 'आसन' लगाऊँ।" उसने कहा – "आपको खाने को देने लायक कोई चीज इस वक्त मेरे पास नहीं है।" मैं बोला – "खाने की मुझे उतनी जरूरत नहीं है। यदि रात को यहाँ रहने दो, तो मैं बड़ा अहसान मानूँगा।" "तो आप रहिये, मगर सावधानी से" – यह कहकर वह घर में चली गई। मैंने भी कम्बल बिछाकर आग के पास बिस्तर किया और पाँवों को सेंकने लगा, क्योंकि पाँवों में बड़ी पीड़ा हो रही थी। लगभग डेढ़-दो घण्टे बाद वह स्त्री दरवाजा खोलकर फिर बाहर आई। इतनी देर तक पति-पत्नी कमरे में चर्चा कर रहे थे और उनकी भुनभुनाहट की आवाज बाहर तक आ रही थी। आते ही उसने कहा – "महाराज, आप उस ऊपर की कुटिया में चले जाइए, हम आपको यहाँ नहीं ठहरने दे सकते।"

मैं बैठा-बैठा – भालू के सामने पड़ने की बात, रास्ते के कष्टों की बात सोच रहा था और इसके लिए माँ (जगदम्बा) के ऊपर अभिमान हो रहा था। उसी समय इस बात ने मानो मेरे मन में आग उड़ेल दी। मैंने कहा – "अगर यही बात तुम पहले कहती, तो अच्छा होता, क्योंकि तब तक शायद उस कुटिया के लोग जाग रहे थे। इतनी रात को वे जरूर सो गये होंगे और मैं यहाँ एक अजनबी हूँ। रास्ता भी ठीक से मालूम नहीं। फिर इतना अन्धकार है। मेरे द्वारा तुम्हारा कोई भी अनिष्ट होने की आशंका नहीं है। यदि मन में ऐसा भाव आया हो, तो उसे दूर करके निश्चिन्त हो जाओ। मेरी शकल देखकर ही निश्चित रूप से तुम्हारे हृदय में इस बात की सत्यता का बोध हो रहा होगा। और यदि मेरे अपने अनिष्ट की आशंका से चले जाने को कह रही हो, तो इस विषय में मैं पहले ही कह चुका हूँ – यदि वैसा कुछ हो, तो तुम्हें जरा भी दोष नहीं लगेगा।" वह स्त्री फिर भीतर चली गई और बहुत देर के बाद पति से चर्चा करके आई और बोली – "क्या करूँ, मेरे पति कह रहे है कि आप और कहीं जायँ, तो अच्छा हो। यदि आपको कुछ हो जाय तो?"

मैंने और कुछ नहीं कहा, कम्बल उठाकर कन्धे पर रखा और नीचे के उस कुण्ड की ओर उतरने लगा। सोचा – "उसी के किनारे पड़ा रहूँगा। शायद 'माँ' की यही इच्छा है कि बाघ-भालू या अन्य किसी जंगली पशु के द्वारा यह शरीर नष्ट हो जाय। तो उन्हीं की इच्छा पूर्ण हो।" और हृदय एक दुखमय भाव से भर गया। "भालू के हाथ से बचाकर अब बाघ के मुख में देगी" – इसीलिए तो माँ ऋषीकेश से इधर ले आई, इसीलिए रास्ता भुलाया और निश्चय ही इसीलिए इन्होंने स्थान देकर भी बाद में चले जाने को कहा। निश्चित रूप से यही बात है। ठीक है, ठीक है! इस जन्म में मैं तुम्हारा हूँ, इस देह-मन आदि सब कुछ पर तुम्हारा पूरा अधिकार है – तुम्हारी जो इच्छा, कर सकती हो। पर जीवन का आध्यात्मिक उद्देश्य पूर्ण होने के पूर्व ही यदि तुमने मारा, तो यह तुम्हारे सत्य की च्युति होगी। तुम्हारे मातृत्व का मूल्य भी मेरी समझ में आ गया। माँ कभी अपनी सन्तान को इतना कष्ट नहीं दे सकती। पुत्र के सैकड़ों दोष हों, तो भी माँ कभी उसे अपने हाथ से हिंसक पशुओं के मुँह में नहीं डाल सकती। तुम्हें माँ कहकर, तुम्हारी शरण लेकर मैंने भूल की है। अगले जन्म में ऐसी भूल दुबारा नहीं करूँगा।

"महाराज, महाराज, लौट आओ, कुण्ड पर मत जाओ – वहाँ जंगली जानवर पानी पीने आते हैं, तुम यहीं लौट आओ।" – उस महिला ने चिल्ला-चिल्ला कर कहा। उसके हृदय में दया-भाव पैदा हुआ था, पर उस समय मैं बिल्कुल निराश हो चुका था और मृत्यु के सामने कूदने को तैयार था। बोला – "नहीं, नहीं, अब मैं लौटकर नहीं आऊँगा। मैं तो उसी कुण्ड के पास जाऊँगा। खुदा की जो इच्छा होगी, वही होगा। तुम अपने पति से कहो कि अब उनके लिए चिन्ता या भय का कोई कारण नहीं रहा।" यह कहकर मैं द्रुत वेग से उस कुण्ड की तरफ चल पड़ा।

मेरे मन में यह धारणा दृढ़ रूप से बैठ गई थी कि मृत्यु वहाँ मेरा इन्तजार कर रही है। अस्तु, जिस उद्देश्य से घर छोड़ा था, वह इस जीवन में पूर्ण नहीं हो सका, न हुई देश की सेवा और न ही हो सकी दूसरों की सेवा। यह सोचकर पिता के आदेश का भी उल्लंघन किया कि आत्म-वस्तु की प्राप्ति के बाद ही यह सब करूँगा। खैर, अब तो सब कुछ समाप्त होने जा रहा है। "जिसको जानने से और कुछ जानना बाकी नहीं रहता है, जिसको पाने से और कुछ पाना बाकी नहीं रहता है। शोक-मोह से छुटकारा मिलता है, पाप-पुण्य से मुक्ति मिलती है, कर्तव्य-अकर्तव्य कुछ नहीं रह जाता। व्यक्ति कल्याण-स्वरूप हो जाता है, आनन्द-स्वरूप हो जाता है" – उसे जानना नहीं हो सका, उसे पाना नहीं हो सका। धन्य हो माँ, तुम्हारी जय-जयकार हो। माँ, लोग तुम्हें क्यों दयामयी कहते हैं, मैं तो तुममें दया का लेश मात्र भी नहीं देख रहा हूँ। यदि तुम सचमुच दयामयी होती, तो जो एकमात्र तुम्हीं पर आश्रित है, उसे तुम इतना कष्ट कदापि नहीं देती। नहीं, मुझे तो लगता है कि रामकृष्ण, रामप्रसाद आदि सबने तुम्हें दयामयी कह-कहकर प्रसन्न करने की चेष्टा मात्र की है – यह सोचकर कि यदि कहीं तुममें थोड़ी-सी भी दया हो, तो तुम उन्हें दुःखों से बचाओगी! परन्तु वह सब चाटु-वाक्य के अतिरिक्त और क्या है! राजा यदि खूब क्रूर हो, दुष्ट हो, निर्दयी हो, तो भी प्रजा यदि उसके पास कोई आशा लेकर जाती है, तो उसे 'दया का सागर' ही कहती है, लेकिन उसे यह बोध नहीं होता। अथवा किसी दोष के कारण पकड़े जाने पर छुटकारा पाने के लिए, भय के कारण उसे सर्वश्रेष्ठ गुणों का भण्डार भी कहते हैं। माँ, तुम्हें भी वे लोग शायद इसी तरह के किसी कारणवश 'दयामयी, स्नेहमयी' आदि कहते हैं। परन्तु मैं उस तरह का आदमी नहीं हूँ – भय के कारण तुम्हें 'दयामयी' नहीं कह सकूँगा। तुम्हीं यदि सृष्टि-स्थिति आदि कर रही हो, तो तुम निर्दयी भी हो। मृत्यु के कारण मैं फरियाद नहीं कर रहा हूँ, अपितु अपनी अपूर्ण आकांक्षा के लिए कर रहा हूँ, जिसे तुम अपनी इच्छा मात्र से 'पूर्ण' करने में सक्षम हो। यह केवल मेरे निजी अनुभव की बात नहीं है – जिन्होंने तुम्हें देखने का 'दावा' किया है या तुम्हारी दया प्राप्त की है, जिन लोगों के बारे में ऐसी लोक-प्रसिद्धि है, उन्हीं की बातों पर निर्भर करके मुझे ऐसा विश्वास हुआ है। इसी तरह से विचार करते हुए मैं कुण्ड के पास जाकर बैठ गया।

दूर जंगल से तरह-तरह के पशुओं की विभिन्न प्रकार की आवाजें आ रही थीं। मैं मन-ही-मन कहने लगा – "गर्भधारिणी या मानवी माँ, तुमसे बहुत अच्छी है। उसे समझा जा सकता है और वह तुम्हारी तरह इतनी निर्दय भी नहीं है। दुःख होने से यदि वह उसे मिटा नहीं सकती, पर संवेदना तो प्रकट करती है, भूख लगने पर खाने को देती है, बीमार होने पर सेवा करती है, सदा अपनी सन्तान के कल्याण के लिए चिन्ता करती रहती है और इसके लिए विभिन्न उपायों का आश्रय लेती है। यह सच है कि वह 'असहाय' है, उसकी सामर्थ्य कम है, पर हम उसे प्रत्यक्ष देख सकते हैं, उसके स्नेह का आस्वादन कर सकते हैं और उसकी दया अनुभव कर सकते हैं। मैं उस सुख से तो वंचित ही हूँ। तुम्हारे स्नेह तथा तुम्हारी करुणा से भी वंचित हो चुका हूँ।"

उसी समय काफी दूर नदी के गर्भ में एक बृहत् चट्टान के पास आग की एक झलक-सी दिखाई पड़ी। फिर प्रचण्ड अग्नि से काफी दूर तक आलोकित हुआ। मैं एकटक उसी ओर देखता रहा कि किसी व्यक्ति ने आग जलाई है या फिर जंगल में किसी प्रकार आग लग गई है! उसके बाद पहाड़ी सुर में गाने की क्षीण प्रतिध्वनि सुनने में आई। तो फिर यह मनुष्य का ही कार्य है, कोई आग ताप रहा है। मन में आया कि देखें, वह भी स्थान देता है या नहीं। अन्तिम प्रयास करने उसी तरफ चल पड़ा। यदि वहाँ भी स्थान न मिला, तो वहीं नदी-गर्भ में या कहीं अन्यत्र पड़ा रहूँगा, किसी का भरोसा नहीं है, क्योंकि जो भरोसा दे सकता है, वह क्या करना चाहता है, यही नहीं समझ पा रहा हूँ। और उससे दया की भिक्षा करना तो व्यर्थ है। क्योंकि प्रथमतः तो उसे कभी देखा नहीं है और फिर यह भी नहीं मालूम कि उसका मेरे प्रति स्नेह है भी या नहीं। मैंने अन्य अनेक प्रार्थनाएँ तो की हैं, परन्तु उसने किसी दिन उसे पूर्ण किया हो, ऐसा तो स्मरण नहीं आता, तो फिर अब मृत्यु के सम्मुखीन होकर प्रार्थना करना वृथा प्रतीत हो रहा था। मृत्यु आये, क्योंकि माँ की कितनी भी दया हो, एक दिन तो उसे आना ही है, पर ऐसी 'भयंकर' मृत्यु और जबकि जीवन का चरम साधन भी पूरा नहीं हुआ है, उसी समय – दुःख इसी बात का है।

आग के पास पहुँचकर देखा – चार-पाँच लोग बैठे हैं, दो जन पहाड़ी सुर में गीत गा रहे थे, एक व्यक्ति पंजाबी हुक्के से धुम्रपान कर रहे थे और दो अन्य लोग बैठे बातें कर रहे थे। मुझे देखते ही सबने एक साथ – 'आइये स्वामीजी,

आइये' – कहकर स्वागत किया। आग के पास मुझे बैठने को आसन दिया और बड़े प्रीति के साथ पूछने लगे – "इतनी रात में कहाँ से?" उनको सविस्तार सब कुछ बताया, केवल यह नहीं बताया कि मुसलमान स्त्री ने पहले जगह देकर, फिर मुझे चले जाने को कहा था, क्योंकि – ऐसा व्यवहार किया है – सुनने पर श्रद्धालु पंजाबी हिन्दू इस मुसलमान-दम्पति से झगड़ा करने जा सकते थे। एक ने गर्म तेल कर मेरे पैरों पर मालिश करना शुरू कर दिया, क्योंकि उन्हें मालूम था कि बिना-जूते उस कंकरीली काँटों के बीच चलने से पैरों की क्या दशा हुई होगी ! वह बार-बार कहने लगा – "जूते क्यों नहीं पहने।" – "फेंक दिया।" – "फटा होने पर भी बड़े काम आता" और वे लोग खेद व्यक्त करने लगे कि उनके पास खाने के लिए देने को कुछ भी नहीं है। उन लोगों ने वहाँ चूने की भट्ठी बनायी थी और देहरादून या निकट के बड़े-बड़े ग्रामों में चूना बेचकर अपना निर्वाह करते थे।

धन्य पंजाब – वेदभूमि तुम्हें बारम्बार प्रणाम ! तुम्हारा अतिथि-सत्कार, दीन-दुखियों के प्रति दया और साधु-सन्तों की सेवा अतुलनीय है – 'वाह गुरु की फतह !' सारे भारत में भ्रमण किया है, पर साधु-संन्यासियों के प्रति पंजाब की तरह श्रद्धा, ऐसे उदार भाव से सेवा करना, अन्यत्र कहीं नहीं देखा है। पंजाब में खाली-हाथ मैं जितना निश्चिन्त होकर भ्रमण कर सका था, वैसा और कहीं नहीं कर सका। पंजाब में कभी भिक्षा न मिलने के कारण 'उपवास' नहीं करना पड़ा था – 'भिक्षां देहि' कहकर खड़े होने के बिना भी भोजन मिला है। परन्तु दूसरे स्थानों पर कई बार अनिच्छापूर्वक उपवास रखना पड़ा था। केवल अमृतसर में एक घटना हुई थी, जिसे बाद में लिखूँगा, परन्तु उन दिनों मैं स्वेच्छया माधुकरी किया करता था। धन्य पंजाब ! धन्य वेदभूमि ! जय गुरु नानक !

माँ ने आश्रय दिया, आखिरकार मुझ पर दया की। माँ को अपने विषय में जितना निर्दयी सोचा था, लगता है उतनी नहीं है। समझ गया कि माँ के इस कठोर व्यवहार के पीछे एक उद्देश्य है। समझ गया कि **उनकी दया पर निर्भर करने के लिए धैर्य चाहिए – अन्त तक 'धैर्य'**। खूब शिक्षा मिली। इन लोगों की आज देहरादून लौटने की बात थी, पर दोपहर को वर्षा होने के कारण जा नहीं सके। क्या यह मेरे लिए ही हुआ, माँ? यदि उस समय वह मुसलमान-महिला मुझे विदा नहीं कर देती, तो मै वेदभूमि की महिमा और गुरु नानक के प्रभाव का उदाहरण इतने सुन्दर रूप से नहीं देख पाता। कितना भयंकर स्थान था वह ! और मेरे मन की हालत भी वैसी ही भयंकर थी – **ऐसी स्थिति में ही ठीक-ठीक शिक्षा मिलती है। माँ की दया का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है।** धैर्य, धैर्य – जब माँ के हाथ में अपना देह-मन सौंपा है, तो निराश्रय फकीर के पास धैर्यपूर्वक जीवन-मरण, सुख-दुःख की प्रतीक्षा करने के सिवा दूसरा उपाय ही क्या है? जब उनके ऊपर सब कुछ छोड़ दिया है, तो फिर इतनी चिन्ता क्यों? नहीं माँ, फिर कभी अधीर नहीं होऊँगा। जीवन-मृत्यु तुम्हारे हाथों में है – सुख-दुःख भी तुम्हारे हाथों में है, सभी अवस्थाओं में यथासाध्य शान्त-धीर रहने की चेष्टा करूँगा। मैं तपहीन हूँ, नासमझ हूँ, कभी-कभी मुझसे भूल हो सकती है। अधीर होकर, अभिमान करके तुम्हें बहुत-कुछ कह भी दूँगा, पर इस दुर्बलता के लिए यदि तुम अपनी दीन सन्तान को क्षमा न करो, तो कौन करेगा ! अब से कभी किसी अन्य का आश्रय लेने नहीं जाऊँगा, किसी अन्य को मन की वेदना बताने नहीं जाऊँगा, अपने दुःख या असहायता की बातें तुम्हें छोड़ किसी अन्य को नहीं कहूँगा – आदि भावनाएँ मन के भीतर भँवर की भाँति घूमने लगीं। हृदय एक अवर्णनीय शान्ति से पूर्ण हो गया। माँ के प्रति अविश्वास की जो तरंगें उठकर मन को पीड़ा दे रही थी, उसके मिट जाने से भक्ति-विश्वास का भाव उदय हुआ।

रात काफी हो चुकी थी, शरीर की नाड़ियाँ दुर्बल हो गई थीं, इसलिए थकान का बोध हो रहा था। आश्रयदाता पंजाबी भाइयों ने यह बात समझकर आग से करीब दस-बारह हाथ दूर मेरे सोने के लिए बिस्तर लगा दिया। और खुद बारी-बारी से पहरा देने का प्रबन्ध किया। (रात के पहले चरण में उन दो पहाड़ी जनों को पहरे के लिए कहा।) मुझे पता ही नहीं चला कि निद्रा देवी ने कब आकर मुझे गोद में उठा लिया और अपने आँचल से ढँक लिया। आँखें खुलने पर देखा तो धूप निकल आई थी और सिर्फ एक पंजाबी को छोड़ बाकी सब काफी पहले ही देहरादून की ओर चले गये थे। मुझे यह सोचकर लज्जा भी आई कि वे लोग कब तीन-चार गधों और दो बैलों पर चूना लादकर चले गये थे, इसका कुछ पता ही नहीं चला। धन्य हो निद्रा देवी, तुम सारे दुख, संसार, स्वार्थ, भय, शत्रुता-मित्रता आदि भुला देने में समर्थ हो। नींद से उठकर स्नानादि करके उससे टिहरी का रास्ता पूछा। उसने कहा – "बिना खाये आप जी नहीं सकते। मेरे साथी सामग्री लेकर शाम तक लौट आयेंगे, आप यहीं रुकिये। मैं दूध लाने जा रहा हूँ – आप थोड़ा दूध-भात खा लीजिये। उनके आने पर रात को रोटी बनेगी।" यह कहकर वह ऊपर पहाड़ियों में दूध लाने चला गया। मैं अकेला बैठा-बैठा इनके अतिथि-सत्कार और कल रात की घटनाओं के बारे में सोचता रहा – "देखना गुरुदेव, टिहरी के रास्ते में शायद अभी और कोई घटना होंगी, विपत्तियाँ आयेंगी – स्थिर रह सकूँ, मृत्यु आ जाय तो भी धैर्य न खोऊँ।" उसने दूध लाकर चावल से खीर बनाई और हम दोनों ने बाँटकर खाया।

❖ (क्रमशः) ❖

सहस्र-द्वीपोद्यान के वे दिन

मेरी सी. फंकी, अमेरिका

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने-वाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं। ये संस्मरण पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित भी हुए हैं और कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हुआ है। प्रस्तुत संस्मरण एक अमेरिकी महिला द्वारा अपने पत्रों में लिखे गये थे, जो अद्वैत आश्रम से **'Reminiscences of Swami Vivekananda'** ग्रन्थ में प्रकाशित हुए थे, वहीं से इसके अनुवादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

कितनी सुन्दर है यह जगह! मकान की निचली मंजिल पर एक विशाल कक्षागृह, एक रसोईघर और दूसरी मंजिल पर कई शयन-कक्ष हैं। स्वामीजी के लिए एक पृथक् निवास-कक्ष है, जिसका प्रवेश-द्वार बाहर की ओर एक अलग सीढ़ी में खुलता है। उनके कमरे से लगा हुआ एक छोटा-सा बरामदा है, जिसमें वे प्रतिदिन संध्या को हमें आमंत्रित करते हैं। अन्य सभी कुटीरों से हमारा भवन ऊँचाई पर स्थित होने के कारण इस बरामदे से बड़ी मनोरम दृश्यावली दीख पड़ती है। वृक्षों के शिखरों को छूती हुई हमारी दृष्टि दूर चली जाती है, जहाँ सेंट लॉरेंस नदी अपने टेढ़े-मेढ़े पथ से मीलों दूर जाकर अदृश्य हो जाती है।

१८९४ ई. के जाड़ों में स्वामीजी ने डिट्राएट में जो व्याख्यान दिये थे, उन सभी को हमने (मैंने तथा क्रिस्टिन ने) सुना था, तथापि वे कभी हमसे व्यक्तिगत रूप से नहीं मिले थे। अत: हम उनके लिए प्राय: अपरिचित ही थीं, तथापि हमें जो हार्दिक स्वागत मिला, उससे हम अत्यन्त अभिभूत हैं। उनके द्वारा इतनी मधुरता के साथ स्वीकार किया जाना क्या ही आनन्ददायी था!

अन्तत: जब हम कुटीर तक पहुँची थीं, तो मृत्यु के समान भयभीत थीं, क्योंकि स्वामीजी को और उनके सहस्र-द्वीपोद्यान के अनुयायियों को हमारे अस्तित्व का किंचित् भी आभास न था, और हमारे लिए मानो उनका पीछा करते हुए सात सौ मील की यात्रा करना और उनसे अनुरोध करना कि वे हमें स्वीकार करें, एक दुस्साहस-पूर्ण कृत्य था। परन्तु उन महाप्राण महापुरुष ने हमें स्वीकार किया।

वह एक अँधेरी रात थी, वर्षा भी हो रही थी, लेकिन हम प्रतीक्षा नहीं कर सकती थीं। हमारे लिए प्रत्येक क्षण कीमती था और हमारा कल्पना चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। वहाँ पर हमारा किसी से भी कोई परिचय न था, परन्तु हमें एक योजना सूझी, जिसके अनुसार हमने विभिन्न दुकानों में पूछताछ आरम्भ की और इस प्रकार हमें पता चल गया कि कुमारी डचर कहाँ रहती हैं। एक जगह हमें बताया गया कि पास ही स्थित एक कुटीर में कुमारी डचर रहती हैं और 'विचित्र वेश में विदेशी-सा दिखनेवाला एक व्यक्ति' भी वहीं ठहरा हुआ है।

तब हमें बोध हुआ कि हमारी खोज पूरी हो चुकी है और हमें एक व्यक्ति मिल गया, जो हाथ में लालटेन लिए रास्ता दिखाते हुए हमारे आगे-आगे चल रहा था।

गीला और फिसलनदार मार्ग ऊपर-ही-ऊपर की ओर जा रहा था। ऐसा लग रहा था कि हम एक कदम आगे, तो दो कदम पीछे फिसल रही हैं। मकान तक पहुँचते ही सर्वप्रथम हमें स्वामीजी की मधुर-गम्भीर आवाज सुनाई दी। वे बरामदे में एकत्र लोगों के साथ वार्तालाप कर रहे थे। मेरा पूरा विश्वास है कि उस समय हमारे हृदय की धड़कनें बाहर तक सुनाई दे रही होंगी। उनकी मेजबान ने उनसे नीचे जाकर 'डिट्राएट से आयी दो महिलाओं' से मिलने को कहा और उन्होंने इतने मधुर-भाव के साथ हमारा स्वागत किया! वह एक आशीर्वाद के समान था। वे बोले, "मुझे डिट्राएट बहुत पसन्द है, वहाँ मेरे अनेक मित्र हैं, है न?" और उसके बाद जरा सोचो तो क्या हुआ होगा! हमने आशा की थी कि हमें किसी होटल या बोर्डिंग हाउस में ठहरना होगा, पर इन उदार लोगों ने जोर दिया कि हम इन्हीं लोगों के बीच ही निवास करें। हमारे हृदय उनके प्रति प्रशंसा-भाव से गद्गद हो उठे।

इस प्रकार हम यहाँ आ पहुँची हैं और स्वामी विवेकानन्द के साथ एक ही भवन में रहकर सुबह आठ बजे से देर रात तक उनके उपदेश सुन रही हैं। स्वामीजी के साथ निवास करना! उनके द्वारा स्वीकृत होना! अपने परम विक्षिप्त सपनों में भी हम कभी इतने अद्भुत, इतने परिपूर्ण किसी चीज की कल्पना नहीं कर सकी थीं। निश्चय ही कभी हमारी नींद खुलेगी और पता चलेगा कि यह एक स्वप्न था। क्योंकि हमने अपने सपनों में स्वामीजी की तलाश की थी, और वे अब साकार हो चुके हैं! तो क्या हम उसी तत्त्व से बने हैं, जिनसे सपनों का निर्माण होता है?

अहा, स्वामीजी की शिक्षाएँ कितनी उच्च भावों से पूर्ण हैं! भूतों-प्रेतों तथा व्यर्थ के विषयों पर कोई चर्चा नहीं, वे केवल ईश्वर, ईसा तथा बुद्ध के बारे में बोलते हैं। मुझे तो लगता है कि अब मेरे लिए अपनी पुरानी अवस्था में लौट पाना असम्भव है, क्योंकि मुझे सत्य की झलक मिल चुकी है।

जरा सोचकर तो देखो – हर बार भोजन के समय, सुबह की कक्षा में तथा रात को बरामदे में एकत्र होकर, आकाश में

चिर काल से झलमलाते नक्षत्र-रूपी स्वर्ण-बिन्दुओं के नीचे बैठकर स्वामीजी की बातें सुनते रहना कितने सौभाग्य की बात है ! अपराह्न में हम लोग दूर तक टहलने जाते हैं और स्वामीजी सहज भाव से आक्षरिक अर्थों में 'बहते झरनों की आवाज में शास्त्र-वाणी तथा प्रस्तरों के बीच धर्मकथा सुन पाते हैं तथा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करते हैं।'[१] और वे ही स्वामीजी इतने आनन्दमय तथा परिहास-प्रिय हैं कि कभी कभी हमारी अवस्था पागल के समान हो जाती है।

परवर्ती पत्र में – पिछली बार तुम्हें लिखने के बाद से हम सब अति उच्च अवस्था में विचरण कर रहे हैं। स्वामीजी कहते हैं कि इस समय हम भूल जायँ कि डिट्राएट नाम की कोई जगह भी है – तात्पर्य यह कि इन उपदेशों को ग्रहण करते समय हमें अपने मन को व्यक्तिगत विचारों से आच्छन्न नहीं होने देना चाहिए। हमें तृण से लेकर मनुष्य – 'यहाँ तक कि दुष्ट मनुष्य तक' – हर वस्तु में ईश्वर को देखने की शिक्षा दी जा रही है।

सच कहो तो, यहाँ पत्र लिखने के लिए समय निकाल पाना असम्भव-सा है। यहाँ लोगों का आधिक्य हो जाने के कारण हमें कुछ असुविधाएँ भी सहनी पड़ रही हैं। चूँकि स्वामीजी शीघ्र ही इंग्लैंड जानेवाले हैं, और हमें लगता है कि अब काफी कम समय ही बच रहा है, अत: हमारे पास विश्राम करने को भी पर्याप्त समय नहीं है। कहीं कुछ बहुमूल्य रत्नों से हम वंचित न रह जायँ, इस भय से हम अपने वस्त्र आदि को सज़ा-सँभाल कर रखने में भी अधिक समय नहीं गँवातीं। उनकी उक्तियाँ ही वे रत्न हैं और वे जो कुछ कहते हैं वह सब एक अद्‌भुत सुन्दर चित्र के समान एक-दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत होता है। अपने वार्तालाप में वे काफी दूर निकल जाते हैं, परन्तु सर्वदा ही उसी मूलभूत विषय-वस्तु पर लौट आते हैं – **"ईश्वर को पा लो ! बाकी सभी कुछ निस्सार है।"**

वैसे तो इस घर के सभी लोग रोचक हैं, परन्तु कुमारी वाल्डो तथा कुमारी एलिस को मैं विशेष पसन्द करती हूँ। इनमें कुछ बड़े ही अद्‌भुत लोग हैं। एक हैं कैम्ब्रिज के डॉ. वाइट, जो बड़े सुसंस्कृत हैं और बीच-बीच में बड़े आमोद-प्रमोद की सृष्टि करते हैं। वे कक्षा के दौरान उपदेशों में इतने तन्मय हो जाते हैं कि सहज भाव से हर कक्षा के अन्त में पूछ बैठते हैं, "अच्छा तो स्वामीजी, आखिरकार यही निष्कर्ष निकलता है न कि 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं पूर्ण हूँ'।" अहा, यदि तुम देख पाती ! स्वामीजी किस प्रकार स्नेहपूर्वक मुस्करा कर धीरे से उत्तर देते हैं, "हाँ डाकी, तुम अपने अस्तित्व के वास्तविक सार के रूप में ब्रह्म हो, पूर्ण हो !" बाद में जब डॉक्टर भोजन की मेज पर किंचित् विलम्ब से आते हैं तो स्वामीजी परिहासपूर्वक पलकें झपकाते हुए गम्भीरता के साथ कहते हैं, "लीजिए, ये ब्रह्म आ गये, पूर्ण आ गये।"

स्वामीजी का व्यंग्य-विनोद बड़ा ही रोचक होता है। कभी-कभी वे कहते हैं, "अब मैं तुम लोगों के लिए भोजन बनाऊँगा !" वे पाकविद्या में बड़े निपुण हैं और हमारी टोली के भाई-बहनों को खिलाना बड़ा पसन्द करते हैं। उनका बनाया भोजन बहुत स्वादिष्ट होता है, परन्तु विभिन्न प्रकार के मसालों के संयोग से बड़ा तीक्ष्ण हो जाता है। मैंने सोच लिया था कि मैं इसे खाऊँगी ही, चाहे इससे मेरा दम ही क्यों न घुट जाय और हुआ भी लगभग वैसा ही। यदि स्वामीजी जैसे व्यक्ति मेरे लिए खाना पका सकते हैं, तो मुझे उसको अवश्य ही खाना चाहिए। भगवान उनका भला करें !

ऐसे अवसरों पर आनन्द का मानो एक तूफान-सा आ जाता है। स्वामीजी रेलयान के वेटरों के समान अपनी बाँह पर एक तौलिया लटकाये खड़े होकर ठीक उन्हीं की नकल उतारते हुए पुकारते हैं, 'Last call fo' the dining cah. Dinner served.' (भोजनयान की अन्तिम पुकार – खाना लग चुका है !) – इस पर हँसे बिना भला कैसे रहा जा सकता है? फिर भोजन की मेज पर किसी छोटी-सी टिप्पणी या चुटकुले पर हँसी के ठहाके गूँज उठते हैं; वे हर किसी की व्यक्तिगत विशेषताओं को निश्चित रूप से पकड़ लेते हैं, पर वे उस पर व्यंग्य या कटाक्ष नहीं करते, केवल विनोद मात्र करते हैं।

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें स्वामीजी की हास-परिहास की क्षमता के बारे में लिखा था, तबसे ऐसी कई घटनाएँ हो चुकी हैं, जिनसे पता चलता है कि विवेकानन्द के व्यक्तित्व में न जाने कितने विभिन्न पहलू हैं। वे जो भी कहते हैं, उन्हें हम लिपिबद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं, परन्तु मैं सुनने में इतनी तल्लीन हो जाती हूँ कि लिखना विस्मृत हो जाता है। उनकी आवाज में अद्‌भुत मिठास है; जिसके दिव्य संगीत में आदमी स्वयं को भूल जाता है। जो भी हो, प्रिय कुमारी वाल्डो कक्षाओं के बड़े विस्तारपूर्वक नोट ले रही हैं और इस प्रकार उन्हें संरक्षित किया जा रहा है।

क्रिस्टिन तथा मेरे – हम दोनों के जन्म के मुहूर्त पर अवश्य ही किसी शुभ ग्रह की दृष्टि पड़ी होगी। अब भी हम कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त के विषय में अधिक कुछ नहीं जानतीं, परन्तु हमें यह दिखने लगा है कि स्वामीजी के साथ हमारा संयोग कराने में इन्हीं दोनों का हाथ है।

कभी-कभी मैं उनसे बड़े दु:साहस भरे प्रश्न पूछ बैठती हूँ, क्योंकि मुझे यह जानने की उत्कण्ठा है कि विशेष-विशेष परिस्थितियों में उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी। जब मैं अपने

१. Finds tongues in trees, books in the running brooks,
Sermon in stones and good in everything.
– Shakespeare's 'As you like it.' Act II, Sc. I.

भावावेग के साथ ऐसे विषयों में 'दौड़ जाती हूँ, जहाँ देवदूत भी विचरण करने का साहस नहीं जुटा पाते', तो वे उसे भी बड़े अनुग्रहपूर्वक स्वीकार करते हैं। कभी उन्होंने किसी से कहा था, "फंकी मेरे मनोविनोद की व्यवस्था करती है, वह बड़ी सरल है।" क्या यह उनके स्नेह का द्योतक नहीं था?

एक दिन सन्ध्या के समय वर्षा हो रही थी और हम सभी रहने के कमरे में ही बैठे थे; स्वामीजी ने पातिव्रत धर्म का आदर्श समझाते हुए हमें सीता की कथा सुनायी। कथा कहने में वे सानी नहीं रखते, सभी चरित्र मानो आँखों के सामने सजीव हो उठते हैं। मेरे मन में आया कि पाश्चात्य समाज की कुछ प्रतिष्ठित सुन्दरी नारियाँ, जो पुरुषों को लुभाने की कला में निपुण हैं, स्वामीजी की दृष्टि में कैसी प्रतीत होंगी? भलीभाँति सोचकर देखने के पूर्व ही सहसा मेरे मुख से यह प्रश्न निकल पड़ा और मैं बड़ी उलझन में पड़ गयी। पर स्वामीजी ने अपनी बड़ी-बड़ी तथा गम्भीर आँखों से शान्त भाव के साथ मेरी ओर देखा और धीरतापूर्वक कहने लगे, "यदि विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी भी निर्लज्जता तथा अनारी-सुलभ भाव से मेरी ओर देखे, तो वह उसी क्षण मेरी दृष्टि में एक बीभत्स हरी मेढकी में परिणत हो जायेगी और तुम जानती हो कि मेढकी के सौन्दर्य का कोई भी प्रशंसक नहीं होता।"

मेरे नाम को लेकर एक बड़ी मजेदार घटना हुई। एक दिन हम सभी गाँव की ओर टहलने गये थे। रास्ते में हमने देखा कि एक तम्बू में एक व्यक्ति फूँक मारकर काँच की चीजें बना रहा है। उसे देखकर स्वामीजी को बड़ा मजा आया और वे उस व्यक्ति के पास जाकर न जाने क्या कानाफूसी करते रहे। तदुपरान्त वे बोले, "चलो, थोड़ा गाँव के रास्ते से घूम आयें।" जब हम लोग काँचवाले के तम्बू तक लौटे, तो उसने स्वामीजी के हाथ में एक रहस्यमय पैकेट थमा दिया। बाद में पता चला कि उसमें हममें से प्रत्येक के लिए एक स्फटिक का गोला था, जिनमें से हर एक के ऊपर हमारे नाम के साथ लिखा हुआ था – 'विवेकानन्द की प्रीति के सहित।' मकान में पहुँचकर हम सबने अपने अपने पैकेट खोले। उसमें मेरे फंकी (Funke) नाम के स्थान पर फुंकी (Phunkey) लिखा हुआ था। हम लोग तो इस पर हँसते-हँसते लोट-पोट हो गयीं, पर एक ऐसे स्थान पर जाकर जहाँ हमारी आवाज उनके कानों में पहुँच सके। उन्होंने मेरा नाम कभी लिखित रूप में नहीं देखा था, इसीलिए ऐसा हुआ था।

और उस दिन की पूरी शाम वे हमारे प्रति वैसे ही बड़े मधुर, कोमल तथा उदार रहे, जैसे एक स्नेहमय पिता अपने बच्चों को सुन्दर उपहार देकर तृप्ति का अनुभव करता है, यद्यपि हममें से कई आयु में उनसे काफी बड़ी थीं।

स्वामीजी ने क्रिस्टिन को अपने भारतीय कार्य के लिये उपयुक्त पात्र के रूप में चुन लिया था। इस पर वह बड़ी प्रसन्न थी, परन्तु मैं काफी निराश थी, क्योंकि उन्होंने मुझे भारत जाने के लिए उत्साहित नहीं किया। मेरे मन में धुँधली-सी धारणा थी कि आध्यात्मिक रूप से उन्नति करने के लिए गुफा में निवास और गेरुए कपड़े पहनना आवश्यक है। मेरी यह कैसी मुर्खता थी और स्वामीजी कैसे विवेकवान थे! उन्होंने कहा, "तुम एक गृही हो। डिट्रायट लौट जाओ और **अपने पति तथा परिवार में ही ईश्वर का दर्शन करो।** यही तुम्हारा वर्तमान मार्ग है।"

अगला पत्र – आज सुबह हम गाँव में गये और स्वामीजी ने हमारे अनुरोध पर टिन की अपनी प्रतिकृति बनवायी। वे बड़े खुश थे, आनन्द से परिपूर्ण थे! समय का इतना अभाव है कि मैं तुम्हें कक्षा के दौरान ही लिखने का प्रयास कर रही हूँ। मैं स्वामीजी के पास बैठी हूँ और उनके शब्द इस प्रकार हैं, "गुरु एक स्फटिक के समान हैं। जो लोग उनके पास आते हैं, वे उनकी चेतना को पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करते हैं। इस प्रकार वे समझ जाते हैं कि कैसे तथा किस प्रकार

विवेकानन्द-वन्दना

रवीन्द्र नाथ गुरु

नरेन्द्रः सच्चिदानन्दः त्यक्त-विषयवासनः।
विवेकानन्द आप्नोति मुक्तिं नित्यामृताशनः।।

– सच्चिदानन्द-रूपी नरेन्द्र विषय-वासनाओं को त्याग कर स्वामी विवेकानन्द हुए और नित्य अमृत का पान करते हुए इन्होंने अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

रामकृष्णो गुरुर्यस्य ब्रह्मज्ञान-पयोनिधिः।
विवेकानन्द एवासौ नमस्यो धर्मवारिधिः।।

– ब्रह्मज्ञान के अपार सागर – श्रीरामकृष्ण जिनके गुरु तथा मार्गदर्शक हुए और वैसे ही स्वामी विवेकानन्द भी धर्म के रत्नाकर हुए, वे नित्य प्रणम्य हैं।

महिमा हिन्दु-धर्मस्य भुवि येन प्रकाशितो।
विवेकानन्द एवासौ ज्योतिर्मयो यथांशुमान्।।

– तेजस्वी स्वामी विवेकानन्द सूर्य के समान ज्योतिर्मय हैं और उन्होंने हिन्दू धर्म की महिमा को पूरी धरती पर प्रकाशित किया।

रामकृष्ण-स्वरूपाय विवेकानन्द-रूपिणे।
सनातनाय धर्माय नमः सत्याय चात्मने।।

— श्रीरामकृष्ण जिसके जीवन्त विग्रह थे और स्वामी विवेकानन्द ने जिसे (अपने जीवन तथा सन्देश में) रूपायित किया, उस सनातन धर्म को, उस सत्य को और उन परमात्मा को नमस्कार है।

शिष्य की सहायता करनी है।" इससे उनका तात्पर्य यह है कि गुरु को प्रत्येक शिष्य की जरूरत को देखने और उसी की चेतना के स्तर पर उन्हें पूरा करने में समर्थ होना चाहिए।

आज वे सुबह की कक्षा के बाद मेरी ओर उन्मुख होकर बोले, "फंकी, जरा मुझे एक रोचक कहानी तो सुनाओ! अब हम शीघ्र ही अपनी-अपनी जगह चले जाएँगे; अतः इस समय हमें मजेदार बातें करनी चाहिए, क्यों ठीक है न?"

प्रतिदिन अपराह्न में हम दूर-दूर तक टहलने जाते हैं। हमारा सबसे प्रिय रास्ता है – मकान के पीछे की पहाड़ी से नीचे उतरते हुए गाँव का पथ पकड़कर नदी तक जाना। एक दिन उसी मार्ग जाते समय सहसा किसी बनबिलाव का दुर्गन्ध मिला। उसके बाद से ही घूमने निकलते समय स्वामीजी कहा करते, "क्या हम दुर्गन्ध-मार्ग पर टहलने चले?"

चलते समय बीच-बीच में ठहरकर हम स्वामीजी को घेरे हुए घास में बैठ जाते हैं और उनकी अपूर्व बातें सुना करते हैं। एक पक्षी, एक पुष्प या एक तितली को देखकर ही उनकी बातें आरम्भ हो जाती हैं और वे हमें वेदों की कथाएँ अथवा भारतीय काव्य सुनाने लगते हैं। मुझे याद आता है कि एक कविता इस पंक्ति से आरम्भ हुई थी, "उसके नेत्र मानो कमल पर बैठे काले भ्रमरों के समान हैं।" उनके मतानुसार हमारे देश की अधिकांश कविताएँ ही अत्यन्त साधारण भावों की हैं; उनके देश की कविताओं के समान सूक्ष्म तथा उदात्त भावों से युक्त नहीं हैं।

बुधवार, ७ अगस्त। अहा, वे विदा हो चुके हैं! स्वामीजी आज रात नौ बजे के स्टीमर से क्लेटन चले गये। वहाँ से ट्रेन में बैठकर वे न्यूयार्क जायेंगे और तदुपरान्त जलयान में इंग्लैंड की यात्रा करेंगे।

यह अन्तिम दिन बड़ा ही अद्भुत तथा मूल्यवान था। आज प्रातःकाल कक्षा नहीं हुई। उन्होंने क्रिस्टिन तथा मुझे अपने साथ टहलने जाने को कहा, अन्य किसी को वे साथ नहीं ले जाना चाहते थे। बाकी लोग तो पूरे ग्रीष्म-काल उनके साथ थे और वे हम दोनों के साथ अन्तिम बार वार्तालाप कर लेने के इच्छुक थे। हम लगभग आधे मील तक एक पहाड़ी पर चढ़ते रहे। चारों ओर वन तथा नीरवता का साम्राज्य बिखरा पड़ा था। फिर उन्होंने एक नीची डालियों-वाले वृक्ष को चुना और हम उन झुकी हुई डालियों के नीचे बैठ गये। हमें आशा थी कि वे बातें करेंगे, परन्तु सहसा ही वे कह उठे, "अब हम ध्यान करेंगे। हम बोधिवृक्ष के नीचे आसीन बुद्ध के समान हो जायेंगे।" वे इतने निश्चल भाव से बैठे मानो कोई काँसे की मूर्ति हों। फिर आँधी आयी और वर्षा भी होने लगी। परन्तु इन सबका उन्हें बिल्कुल भी बोध न था। मैंने अपनी छतरी उठा कर यथासम्भव उनकी रक्षा की। ध्यान में डूबकर उन्हें बाह्य परिवेश का बिल्कुल भी भान नहीं रह गया था। शीघ्र ही हमने दूर से आती चिल्लाने की आवाज सुनी। बाकी लोग बरसाती कोट तथा छाते लिए हुए हमें ढूँढ़ने निकल पड़े थे। हमें लौटना था, अतः स्वामीजी ने आँखें खोलकर खेदपूर्वक चारों ओर देखा और बोले, "क्या एक बार पुनः मैं कलकत्ता की वर्षा में आ पड़ा हूँ?"

उस आखिरी दिन उन्होंने बड़ा ही कोमल तथा मधुर व्यवहार किया। जब नदी के मोड़ पर स्टीमर घूमने लगा, तब हमसे विदा लेते हुए उन्होंने बालसुलभ आनन्द के साथ अपनी टोपी हिलायी और वे सचमुच ही चले गये!

अब जब मैं इन संक्षिप्त स्मृतियों को समाप्त कर रही हूँ, तो कैलेण्डर बता रहा है कि आज १४ फरवरी, १९२५ का दिन है – ठीक ३१ वर्ष पूर्व लगभग इसी समय यूनीटेरियन चर्च में मैंने स्वामीजी को पहली बार देखा था।

अहा! धन्य हैं सहस्र-द्वीपोद्यान के वे प्रशान्तिमय दिन! जहाँ की पूरी रातें चाँदनी की सौम्य रहस्य अथवा सुनहरे तारकों के प्रकाश से झिलमिलाती थीं। और इसके बावजूद आपात् दृष्टि से हमारे बीच स्वामीजी के आगमन में कोई रहस्य न था। वे एक सरल-सहज वेश में आये थे।

बाद में हमें पता चला कि रहस्यमयता का आभास तक देनेवाली कोई भी चीज उन्हें घृण्य प्रतीत होती थी। वे आत्मा की महिमा तथा आलोक को प्रकट करने अवतरित हुए थे। मनुष्य की सीमाएँ स्वयं उसी के द्वारा निर्मित हैं। "तुम्हारे हाथों में वह रज्जु, तुम्हें जो सतत खींचती मित्र!" – यही या वह केन्द्रीय मूल सूत्र, जो स्वामीजी की समस्त शिक्षाओं में व्याप्त था।

परम कष्ट स्वीकार करके भी उन्होंने हमें वह पथ दिखाने का प्रयास किया, जिस पर वे स्वयं चले थे। ३१ वर्षों बाद स्वामीजी मेरी चेतना में उस विराट् मूर्ति के रूप में भास रहे हैं – एक ऐसे बन्धनों के उन्मोचक जो जानते थे कि कब और कहाँ छूट नहीं दी जा सकती। अग्नि और ज्वाला से युक्त वह व्यक्ति, अपनी अग्निमयी दुधारी तलवार लिए पूरब से आया। कुछ लोगों ने उनका स्वागत किया और जिन्होने उनको स्वीकार किया उन्हें उन्होंने शक्ति प्रदान किया।

ऐसे थे विवेकानन्द! ❑❑❑

(प्रबुद्ध भारत, फरवरी १९२७ से अनूदित)

सर्व धर्मों के प्रति समभाव

स्वामी आत्मानन्द

मानव-जाति के भाग्य के निर्माण में संसार में जितनी शक्तियों ने योगदान दिया है और दे रही हैं, उन सबमें धर्म के रूप में प्रकट होनेवाली शक्ति सबसे बलवती रही है। सभी सामाजिक संगठनों के मूल में कहीं-न-कहीं यही अद्‌भुत शक्ति काम करती रही है, तथा अब तक मानवता की विविध इकाइयों को संघटित करनेवाली सर्वश्रेष्ठ प्रेरणा इसी शक्ति से प्राप्त हुई हैं। हम सभी जानते हैं कि धर्म से जिस एकत्व के सम्बन्ध का उद्‌भव होता है, वह जाति, वंश और क्षेत्र के आधार पर होनेवाले एकत्व के सम्बन्ध से कहीं अधिक सुदृढ़ सिद्ध होता है। यह तो जानी-मानी बात है कि एक ईश्वर को पूजनेवाले तथा एक धर्म में विश्वास करनेवाले लोग जिस दृढ़ता और शक्ति से एक दूसरे का साथ देते हैं, वह एक ही वंश के लोगों की क्या बात, भाई-भाई में भी देखने को नहीं मिलता।

पर यह भी सत्य है कि यद्यपि मानव-जीवन में धर्म ही सर्वाधिक शान्तिदायी है, तथापि उसने ऐसी भयंकरता की भी सृष्टि की है, जैसी कि किसी दूसरे ने नहीं की। यह सही है कि धर्म ने ही सर्वापेक्षा अधिक शान्ति और प्रेम का विस्तार किया है, पर इसके साथ ही उसने सर्वापेक्षा भीषण घृणा और विद्वेष की भी सृष्टि की है। यह सच है कि धर्म ने ही मनुष्य के हृदय में भ्रातृ-भाव की प्रतिष्ठा की है, पर इसके साथ ही यह भी सच है कि धर्म ने मनुष्यों में सर्वापेक्षा कठोर शत्रुता और विद्वेष का भाव भी उद्दीप्त किया है। धर्म ने ही मनुष्यों और पशुओं तक के लिए सबसे अधिक दातव्य चिकित्सालयों की स्थापना की है, फिर धर्म ने ही पृथ्वी में सबसे अधिक रक्त की नदियाँ भी बहायी हैं। इसके बावजूद धर्मों और सम्प्रदायों के कलह और कोलाहल, द्वन्द्व और संघर्ष, अविश्वास और ईर्ष्या-द्वेष में से समय-समय पर इस प्रकार की वज्र-गम्भीर वाणियाँ निकलती रही हैं, जिन्होंने इस सारे कोलाहल को दबाकर संसार में शान्ति और मेल की तीव्र घोषणा की है। इन वाणियों ने धर्मों के बीच पारस्परिक सद्‌भाव को बढ़ाने पर बल दिया है, तथापि प्रबल धार्मिक संघर्ष की भूमिका में ऐसे प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि क्या कभी धर्म-सामंजस्य का अविच्छिन्न राज्य होना सम्भव है?

सर्व-धर्म-समभाव के लिए विभिन्न धर्मावलम्बियों का इस सत्य पर आस्था होना आवश्यक है कि विभिन्न धर्म एक ही सत्य को पाने के अलग-अलग रास्ते हैं। यदि मैं केवल अपने धर्म को सत्य मानूँ और दूसरे के धर्म को मिथ्या, तो ऐसे धार्मिक दुराग्रह से उत्पन्न झगड़ों को नहीं रोका जा सकता और तब ऐसी स्थिति में धर्म-समभाव एक कल्पना मात्र रह जाता है। इस समभाव के लिए न्यूनतम शर्त यह है कि व्यक्ति 'धर्म' शब्द के सही अर्थ को समझकर उसे अपने जीवन से सम्बन्धित करने का प्रयास करे। जैसे परिधि से वृत्त के केन्द्र पर पहुँचने के लिए त्रिज्याओं के अनन्त मार्ग हैं, वैसे ही उस परमात्मा रूपी केन्द्र पर पहुँचने के लिए अनगिनत रास्ते हैं। जैसे हर त्रिज्या सत्य है, वैसे ही परमात्मा के पास जाने का हर रास्ता सही है। एक एक त्रिज्या मानो एक एक धर्म है। भगवान श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन में विभिन्न धर्मों की साधनाएँ की थीं और उनकी सत्यता का अनुभव कर घोषणा की थी – 'जितने मत उतने पथ'। विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद भी घोषित करता है - **'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'** – 'सत्य एक है ज्ञानीजन उसी एक सत्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से पुकारते हैं।' पुष्पदन्त भी 'शिवमहिम्न-स्त्रोत' में लिखते हैं –

रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजु-कुटिल नाना पथ-जुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

– "जिस प्रकार पहाड़ों से निकलनेवाली नदियाँ, टेढ़े या सीधे रास्तों का अवलम्बन करती हुई अन्त में सागर में जाकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार हे परमात्मा, मनुष्य विभिन्न स्वभावों के वशवर्ती हो भले ही सीधे या टेढ़े रास्तों से चलते हुए दिखें, पर अन्त में एक तुम्हीं को आकर प्राप्त होते हैं।"

ये ऐसी अनुभूतियाँ हैं, जो सर्वधर्म-समभाव के पथ को प्रशस्त करती हैं। ये अनुभूतियाँ बतलाती हैं कि मनुष्य को ऐसा कट्टर नहीं होना चाहिए कि वह समझने लगे कि उसका केवल अपना रास्ता ही सही है। उसे 'ही'-वाद से बचना चाहिए और 'भी'-वाद को स्वीकृति देनी चाहिए। तुम्हारा रास्ता भी सही हो सकता है – यह 'भी'-वाद है। इस 'भी'-वाद से मनुष्य एकांगी नहीं हो पाता। यह भी कैसी विडम्बना है कि एक ओर तो मनुष्य ईश्वर को असीम-अनन्त मानता है और दूसरी ओर उसे अपने सीमित-सान्त मन के द्वारा पकड़ लेने का दावा करता है। केवल अपने धर्म को सत्य माननेवाले लोग यही तो दावा करते हैं कि सारा सत्य उन्हीं के पास है। इसका तात्पर्य यही तो हुआ कि वे ईश्वर को पूरी तरह समझ लेने का दावा करते हैं। पर क्या असीम तत्त्व सीमित मन की परिधि में समा सकता है? अनन्त ईश्वर को सान्त मन घेर सकता है? साम्प्रदायिक व्यक्ति उन अन्धों के समान होता है, जो हाथी देखने गये थे और

जिन्होंने हाथी को डोर, खम्भा, अजगर, दीवाल या सूप के रूप में देखा था। ये अन्धे 'ही'-सिद्धान्त वाले थे, इसलिए परस्पर झगड़ रहे थे, पर उनका आँखोंवाला मित्र, जो उन सबको हाथी दिखलाने ले गया था, 'भी'-सिद्धान्त का हिमायती था, क्योंकि उसने देखा था कि हाथी डोर के समान भी है और खम्भे के समान भी, अजगर के समान भी है और दीवाल या सूप के समान भी, और साथ ही इन सबसे न्यारा भी है। इसलिए वह किसी से उलझा नहीं, बल्कि उलझनेवालों को शान्त कर रहा था।

यही दृष्टान्त धर्म के माननेवालों पर लागू होता है। बहुसंख्य धर्म के माननेवाले लोग दुर्भाग्य से उक्त अन्धों के समान होते हैं, इसलिए उन्हें धर्म-समभाव में आस्था नहीं होती। वे कूप-मण्डूक के समान होते हैं, जिसके लिए अपने कुएँ से बढ़कर और कोई जलाशय नहीं होता। जैसे कूप-मण्डूक सागर की कल्पना तक नहीं कर सकता, वैसे ही धर्मान्ध व्यक्ति सोच ही नहीं सकता कि उसके धर्म के अलावे भी धर्म हो सकता है। उसे अपने धर्म का पुराण सत्य और दूसरे धर्म का पुराण मिथ्या मालूम होता है। धर्मान्ध व्यक्ति धर्म-समभाव की कल्पना तक नहीं कर सकता। वह मात्र अपने मत को सत्य मानता हुआ आग्रह करता है कि दूसरे भी उसके मत पर विश्वास करें। और इतना ही करके वह शान्त नहीं होता, वरन् समझता है कि जो उसके मत में विश्वास नहीं करते, वे अवश्य किसी भयानक स्थान में जाएँगे। कोई-कोई तो दूसरों को अपने मत में लाने के लिए तलवार तक काम में लाते हैं। वे ऐसा दुष्टता से करते हों, सो नहीं। वे वस्तुतः धर्मान्धता नामक व्याधि से ग्रस्त होकर ऐसा करते हैं। यह धर्मान्धता एक भयंकर बीमारी है। मनुष्यों में जितनी दुष्ट-बुद्धि है, वह सभी धर्मान्धता द्वारा जगायी गयी है। उसके द्वारा क्रोध उत्पन्न होता है, स्नायु-समूह अतिशय तन जाता है और मनुष्य शेर जैसा हो जाता है।

इस भयानक रोग को दूर करने का पहला सोपान है 'भी'-सिद्धान्त – यह समझना कि दूसरा धर्म भी सत्य हो सकता है। उसका दूसरा सोपान है – परधर्म-सहिष्णुता। जब हमने समझ लिया कि दूसरा धर्म भी सत्य हो सकता है, तो उसके प्रति सहिष्णुता का भाव अपने मन में जगाना। इसका तीसरा और अन्तिम सोपान है – सर्वधर्म-समभाव, जहाँ हम दूसरे धर्म के प्रति केवल सहिष्णु नहीं होते वरन् उसे समान रूप से सत्य मानकर ग्रहण करते हैं। इस सर्वधर्म-समभाव के मर्म को उद्घाटित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कैलीफोर्निया में सन् १९०० ई. में कहा था – "अतएव acceptance यानी ग्रहण ही हमारा मूलमंत्र होना चाहिए – वर्जन नहीं। केवल परधर्म-सहिष्णुता नहीं, क्योंकि तथाकथित सहिष्णुता प्रायः ईश-निन्दा होती है, इसलिए मैं उस पर विश्वास नहीं करता। मैं ग्रहण में विश्वास करता हूँ। मैं क्यों परधर्म-सहिष्णु होने लगा! परधर्म-सहिष्णु कहने से मैं यह समझता हूँ कि कोई धर्म अन्याय कर रहा है और मैं कृपापूर्वक उसे जीने की आज्ञा दे रहा हूँ। तुम-जैसा या मुझ-जैसा कोई आदमी किसी को कृपापूर्वक जीवित रख सकता है – यह समझना क्या ईश-निन्दा नहीं है? **मैं अतीत के धर्म-सम्प्रदायों को सत्य के रूप में ग्रहण करके उन सबके साथ आराधना करूँगा।** प्रत्येक सम्प्रदाय जिस भाव से ईश्वर की आराधना करता है, मैं उनमें से प्रत्येक के साथ ठीक उसी भाव से आराधना करूँगा। मैं मुसलमानों के साथ मस्जिद में जाऊँगा, ईसाइयों के साथ गिरजे में जाकर क्रूसित ईसा के सामने घुटने टेकूँगा, बौद्धों के मन्दिर में प्रवेश कर बुद्ध और संघ की शरण लूँगा और अरण्य में जाकर हिन्दुओं के पास बैठकर ध्यान में निमग्न हो, उनकी भाँति सबके हृदय को उद्भासित करनेवाली ज्योति के दर्शन करने में सचेष्ट होऊँगा।

"केवल इतना ही नहीं, जो पीछे आएँगे, उनके लिए भी मैं अपना हृदय उन्मुक्त रखूँगा। क्या ईश्वर की पुस्तक समाप्त हो गयी? – अथवा अभी भी वह क्रमशः प्रकाशित हो रही है? संसार की यह आध्यात्मिक अनुभूति एक अद्भुत पुस्तक है। बाइबिल, वेद, कुरान तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थ-समूह मानो उसी पुस्तक के एक-एक पृष्ठ हैं और उसके असख्य पृष्ठ अभी भी अप्रकाशित हैं। मेरा हृदय उन सबके लिए उन्मुक्त रहेगा। हम वर्तमान में तो हैं ही, किन्तु अनन्त भविष्य की भावराशि ग्रहण करने के लिए भी हमको प्रस्तुत रहना पड़ेगा। **अतीत में जो कुछ भी हुआ है, वह सब हम ग्रहण करेंगे, वर्तमान ज्ञान-ज्योति का उपभोग करेंगे और भविष्य में जो उपस्थित होंगे, उन्हें ग्रहण करने के लिए हृदय के सब दरवाजों को उन्मुक्त रखेंगे।** अतीत के ऋषिकुल को प्रणाम, वर्तमान के महापुरुषों को प्रणाम और जो जो भविष्य में आएँगे, उन सबको प्रणाम।

(२०-२-१९७९ को प्रसारित)

माँ की पुण्य-स्मृति (२)

चन्द्रमोहन दत्त

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

❖ (पिछले अंक का शेषांश) ❖

मैं माँ के आदेश से रमाकान्त बसु स्ट्रीट सेकेंड लेन पर[१] मकान किराये पर लेकर गाँव से अपनी पत्नी और बेटे-बेटी (इन्दु और अमूल्य) को ले आया। पर मकान-मालिक भले स्वभाव का न था। वह प्राय: ही कभी स्वयं, तो कभी नौकरों से बच्चों के खेलने की चीजें तुड़वा देता। भाई-बहन का खेलना लगभग बन्द हो चुका था। वे उदास घूमा करते। फिर तो ऐसा हुआ कि वे मकान-मालिक को देखते ही भय से कमरे में घुस जाते। एक दिन माँ से मकान-मालिक के व्यवहार की बात बताने पर वे बड़े दुख से कहने लगीं – "अहा! बच्चों का खेलना बन्द करते हुए उसके मन में जरा भी दुख नहीं हुआ?" तत्पश्चात् वे शरत् महाराज को बुलवाकर बोलीं – "शरत्, मकान-मालिक ने चन्दू के बच्चों का खेलना बन्द कर दिया है। तुम एक जगह देखकर इसके लिए मकान बनाकर उनके सिर छिपाने की व्यवस्था कर दो। ऐसा भी कहीं होता है कि बच्चे न खेलें?" माँ की इच्छा और शरत् महाराज की चेष्टा से बागबाजार के बोसपाड़ा लेन[२] में साढ़े सात कट्ठे जमीन की व्यवस्था हुई। शरत् महाराज ने सब कुछ किया। साढ़े तीन कट्ठे में मकान और बाकी बची हुई जमीन में शाक-सब्जी का उद्यान हुआ। मकान-निर्माण के सारे खर्च और व्यवस्था की जिम्मेदारी शरत् महाराज ने निभाई। मैं अपनी पत्नी और बच्चों को नये मकान में ले आया। दीवाल पक्की थी और छत टीन की थी।

शरत् महाराज ने एक खूँटी गाड़कर शिलान्यास किया। माँ उस समय गाँव में थी। मैंने माँ को पत्र में शिलान्यास की बात लिखी थी। उत्तर में माँ ने लिखा – "तुम्हारा पत्र पाकर लिखित समाचार ज्ञात हुआ। तुम्हारे मकान की नींव डालने के दिन शरत् (स्वामी सारदानन्द) ने जो कुछ निर्धारित किया है, वहीं उत्तम है।" गृहप्रवेश के दिन मैं साधु-ब्रह्मचारी लोगों को ले गया था। उस दिन शरत् महाराज नहीं आये, स्वामी विरजानन्द और अन्य लोग आये थे। उन लोगों ने षोडशोपचार से श्रीमाँ तथा ठाकुर के पट की पूजा की, चण्डी-पाठ और रामनाम-संकीर्तन भी किया। 'मायेर बाड़ी' में ही श्रीमाँ ने स्वयं अपने तथा ठाकुर के पट की पूजा कर दी थी। वही पट ले जाकर स्थापित किया गया। आज भी घर में उसी पट की नित्य-पूजा होती है। पूजाघर में माँ के केश, नख तथा वस्त्र रखे हैं। घर में माँ के चरण-चिह्न मढ़ाकर रखा गया है। माँ के चरणों में दियें पुष्पांजलि के फूल, मंत्रपूत हरीतकी और माँ द्वारा जप की हुई रुद्राक्ष-माला भी है। माँ ने एक बार मेरे हाथ में एक मुट्ठी चावल देकर कहा था – "इसकी पोटली बनाकर चावल के घड़े की पेंदी में रख देना। तुम्हें कभी चावल की अभाव नहीं होगा।"

प्रसंगवश एक बात और बता दूँ, जिसे मैंने अपनी पत्नी के सिवा अन्य किसी से नहीं कहा हैं। माँ कौन है – यह उन्होंने दया करके मुझे दिखा और समझा दिया था – वे स्वर्ग की देवी हैं और हमारे उद्धार हेतु उन्होंने इस मर्त्यलोक में मानवी-रूप में जन्म लिया था। मैंने यह बात किसी को बतायी नहीं, क्योंकि माँ ने अपनी जीवन-काल में इस घटना को प्रकट करने से मना किया था।

घटना इस प्रकार है – माँ जब जयरामवाटी से जातीं, तो कभी-कभी मुझे भी साथ ले जातीं। एक बार वे जयरामवाटी से कलकत्ते लौट रही थीं। हम बैलगाड़ी से कोयालपाड़ा होकर विष्णुपुर जा रहे थे। सहसा मेरे मन में माँ का वास्तविक स्वरूप देखने की तीव्र इच्छा हुई। माँ एक जगह बैलगाड़ी रुकवा कर वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगीं।

एकान्त देखकर मैंने माँ से कहा – "माँ, आप मुझे पुत्र की भाँति स्नेह करती हैं। आपकी कृपा से ही मैं पत्नी-पुत्र-कन्या के साथ जीवित हूँ, आप सारे दु:ख-विपत्तियों से मेरी रक्षा करती हैं, तथापि मेरी एक अतृप्त इच्छा है। उसे यदि आप पूरी कर दें, तो मेरी सारी कामनाएँ पूर्ण हो जायँ।" माँ के पूछने पर मैं बोला – "मेरी अन्तिम इच्छा आपका सच्चा स्वरूप देखने की है।" माँ बिल्कुल भी राजी नहीं हुईं। बहुत अनुनय-विनय के बाद वे अन्यमनस्क होकर अन्य लोगों से बोलीं – "तुम लोग जरा हट जाओ। इसके साथ मुझे कुछ

(१) रास्ते का वर्तमान नाम निवेदिता लेन है। – सं.
(२) अब उस रास्ते का नाम माँ सारदामणि सरणी है। – सं.

बातें करनी है।'' फिर मुझसे बोली – ''केवल तू ही देखेगा। उनमें से कोई नहीं देख सकेगा, पर मेरा वास्तविक रूप देख कर भयभीत मत होना और जो कुछ भी देखना, जितने दिन मेरा शरीर है, किसी से कहना भी नहीं।'' इतना कहकर माँ ने मेरे समक्ष अपनी मूर्ति – जगद्धात्री मूर्ति धारण किया। माँ की यह दिव्य ज्योतिर्मयी मूर्ति देखकर मैं भय से बिल्कुल जड़वत् हो गया। माँ के शरीर से ज्योति निकल रही थी। उस ज्योति से चारों ओर आलोक फैल गया था। तीव्र प्रकाश की ज्योति से मेरे नेत्र चौंधिया उठे थे। इसी बीच मैंने माँ के दोनों ओर जया-विजया को देखा। मेरा पूरा शरीर थर-थर काँपने लगा, कँपकँपी थम ही नहीं रही थी। मैं सीधा खड़ा भी नहीं हो पा रहा था। माँ के चरणों में गिर पड़ा। माँ अपना जगद्धात्री रूप संवरण कर मानवी रूप में मेरे शरीर पर हाथ फेरने लगीं, धीरे-धीरे मेरी कँपकँपी थमी। इसके बाद माँ बोलीं – ''जो कुछ देखा, उसे जब तक मेरा शरीर है, तब तक किसी से न कहना।'' मैंने पूछा – ''आपकी जया-विजया कौन हैं?'' माँ ने कहा – ''गोलाप और योगेन।''

माँ के देहत्याग के काफी दिन बाद रासबिहारी महाराज (स्वामी अरूपानन्द) से मैंने एक अन्य घटना भी सुनी थी। रासबिहारी महाराज माँ के सेवक थे। माँ उनसे बड़ा स्नेह करती थीं। जयरामवाटी में एक दिन रासबिहारी महाराज ने बड़े क्षोभ के साथ माँ से कहा – ''माँ, क्या मेरा जीवन ऐसे ही मकान बनवाते, बाजार करते और हिसाब लिखते ही बीत जायेगा? यह सब करके मेरा क्या होगा?'' माँ ने शान्त स्वर में कहा – ''तो बेटा, बोलो और क्या करोगे? इस बार नरेन (स्वामीजी) यही सब करके उन्हें पाने का पथ बना गया है। उनकी उपासना समझकर निष्काम भाव से ये सब कार्य करने से ही मुक्ति हो जायेगी। तुम और क्या करना चाहते हो? तपस्या करना चाहते हो – हिमालय जाना चाहते हो? वहाँ जाकर देखोगे कि साधु लोग एक रोटी या एक कम्बल के लिए आपस में झगड़ रहे हैं। पहाड़-जंगल में जाकर आँखें मूँदने से ही क्या वे तुम्हारे सामने प्रगट हो जायेंगे? नरेन ने यह जो उससे भी श्रेष्ठ मार्ग की व्यवस्था की है, इसकी कोई तुलना नहीं। बस, उनका काम समझकर, उनकी सेवा मानकर काम करो। और तुम जो कर रहे हो – यह सब तो मेरा काम है। सुन रहे हो रासबिहारी – जरा मेरी ओर देखो।'' रासबिहारी महाराज ने देखा – अब तक जो सीधी-सादी वृद्ध महिला उनके साथ बातें कर रही थी, उनके स्थान पर एक ज्योतिर्मयी देवीमूर्ति विराजित है। चारों ओर ज्योति की बाढ़ आ गयी है। रासबिहारी महाराज दुबारा उस मूर्ति की ओर देख नहीं सके। भय-विस्मय से उन्होंने माँ का वही जाना-पहचाना स्वर सुना, वे कह रही थीं – ''यह क्या रासबिहारी, तुम्हें क्या हुआ, आँखें क्यों बन्द कर लीं? देखो, देखो।'' रासबिहारी महाराज ने आँखें खोलकर देखा, वही पहले वाली माँ अपना चिर-परिचित चेहरा लिए उनके सामने बैठी हैं। उनके मुख पर वही सुपरिचित मधुर हँसी थी।

माँ द्वारा प्रेषित पत्रों को मैंने खूब सँभाल कर रखा है। पत्र साधारण हैं, पर उनके प्रत्येक वाक्य में माँ का असीम स्नेह व्यक्त हुआ है। एक पत्र में माँ ने लिखा था – ''श्री ठाकुर जो भी करते हैं, तुम लोगों के मंगल के लिए ही करते हैं, तो भी सत्य-पथ पर रहना।'' जीवन में बहुत-सी विपत्तियाँ आयीं, अनेक संकट आये, पर सर्वदा मैंने माँ की बातें याद रखने की चेष्टा की है और यथासाध्य पालन करने का प्रयास भी किया है। मेरे पिता की अन्तिम बीमारी के समय श्रीमाँ अपने गाँव में थी। पिता की बीमारी की बात मैंने माँ को सूचित किया था। माँ के निर्देशानुसार ही मैं पिता को अपने मकान में रखकर इलाज कराने के लिए गाँव से कलकत्ता ले आया। पिता को कैंसर हुआ था। शरत् महाराज की व्यवस्था से कलकत्ते के एक बड़े डॉक्टर को दिखाया गया। मैंने पत्र लिखकर पिता की मृत्यु की सूचना भी माँ को दी थी। उत्तर में माँ ने लिखा था – ''तुम्हारे पत्र में पिता की मृत्यु का संवाद पाकर खुशी हुई, इसलिए कि तुम्हारे पिता ने वृद्धावस्था में तुम सबको छोड़कर गंगा-प्राप्ति की।'' पितृ-वियोग से मैं बड़ा टूट गया था, पर माँ का पत्र आते ही क्षण मात्र में मेरा सारा दु:ख-शोक न जाने कहाँ विलीन हो गया।

एक बार पद्मा नदी की बाढ़ हमारा मकान आदि सब बहा ले गयी। कलकत्ते में मेरे पास वह खबर पहुँची। माता-पिता, पत्नी और बाल-बच्चों सहित मेरा पूरा परिवार निराश्रित हो गया। कुछ ठीक नहीं कर पा रहा था कि क्या करूँ, किससे कहूँ! माँ के घर (मायेर बाड़ी) में ही रोज कितना खर्च होता है, यह तो मैं जानता ही था। यह भी जानता था कि माँ अन्नपूर्णा हैं, माँ की कृपा से वहाँ कोई अभाव नहीं है; लेकिन यह भी देखा है कि भक्तों के दिये दान तथा प्रणामी से ही माँ की गृहस्थी चलती है। इसीलिए संकोच के कारण माँ या शरत् महाराज से मैं अपनी विपत्ति की बात न कह सका। चिन्ता के कारण मुझे रात में नींद नहीं आती, खाने-पीने में मन नहीं लगता। पर अन्तर्यामी माँ ने सब कुछ जान लिया। एक दिन वे मुझे बुलाकर बड़े स्नेह के साथ बोलीं – ''भाग्य पर तो किसी का जोर नहीं, चन्दू! तुम इतने हताश मत होओ। तुम एक बार गाँव जाकर उनकी कोई व्यवस्था कर आओ। इतनी चिन्ता करने से क्या लाभ? खाना-पीना क्यों बन्द कर दिया है?'' माँ की बातें सुन मेरे नेत्रों से झर-झर अश्रु बहने लगे। मैंने कहा – ''लेकिन माँ, मैं वहाँ जाकर क्या करूँगा? घर-द्वार तो सब बह गया है। कुछ व्यवस्था करने के लिए तो बहुत पैसे चाहिए। इसके सिवा आने-जाने का किराया भी तो पास नहीं है।'' करुणामयी माँ ने शान्त

भाव से कहा – "मैं सब जानती हूँ। ये कुछ रुपये मेरे पास थे। तुम इन्हें लेकर घर जाओ। इससे तुम्हारे रास्ते का और मकान बनवाने का सारा खर्च पूरा हो जायेगा। लेकिन मेरे रुपये देने की बात तुम किसी से कहोगे नहीं। केवल इतना कहना, "बाढ़ में मकान बह गया है, खबर मिलने पर जा रहा हूँ।" इतना कहकर माँ ने अपने वस्त्र के आँचल में बँधे बहुत-से रुपये मेरे हाथों में दे दिये। इस प्रकार जीवन में मुझे अगणित बार माँ ने प्रेम का परिचय मिला है। और केवल मैं ही नहीं, और भी अनेक लोगों को माँ ने इस प्रकार गुप्त रूप से स्नेह और कृपा वितरित की है, जिसकी थोड़ी-बहुत जानकारी हम लोगों को बाद में मिली।

एक दिन मैं देवव्रत महाराज (स्वामी प्रज्ञानन्द) के साथ गंगा-स्नान को जा रहा था। अचानक सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्द) ने मुझसे कहा – "चन्दू, तुम तो माँ के पास कभी भी जा सकते हो, माँ भी तुमसे अत्यन्त स्नेह करती हैं। एक बात कहता हूँ – क्या तुम माँ से कह सकोगे? मैंने कहा – "निश्चय ही, बताइये क्या कहना होगा?" सुधीर महाराज ने कहा – "ज्यादा कुछ नहीं, केवल एक छोटी-सी बात है। क्या माँ से जाकर कह सकोगे – 'माँ, मुझे मुक्ति चाहिये'?" मैंने कहा – "अभी कह आता हूँ।" मैं दौड़कर ऊपर माँ के कमरे में गया। जाकर देखा माँ पूजा कर रही हैं। मैं कितनी ही बार उनके कमरे में गया हूँ, लेकिन आज पूजारत माँ को देखकर मुझे बड़ा भय लगने लगा। मेरा पूरा शरीर काँपने लगा। सोचने लगा कि कमरे से बाहर निकल जाऊँ, पर मेरे शरीर में इतनी शक्ति भी नहीं थी। पैर थर-थर काँप रहे थे, गला सूखकर काठ हो गया था, मैं पसीने में नहा गया था। माँ सहसा मेरी ओर उन्मुख हुईं। इशारे से पूछा – "कुछ कहना है?" मेरे गले से कोई आवाज नहीं निकली। माँ ने दुबारा संकेत से पूछा – "कुछ कहने आये थे?" अनजाने ही मेरे मुख से निकल गया – "प्रसाद।" माँ ने ऊँगली से चारपाई के नीचे तस्तरी में रखे प्रसाद की ओर संकेत किया। और फिर पूजा करने लगीं। काँपते हाथों से प्रसाद लेकर दौड़ता हुआ जब मैं नीचे पहुँचा, तो देखा कि सुधीर महाराज और देवव्रत महाराज बड़ी बेसब्री के साथ मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे बोले –"क्यों चन्दू, माँग लिया न? क्या कहा माँ ने?" काँपते-काँपते जो कुछ भी हुआ था, मैंने सब उन्हें बता दिया। फिर गंगास्नान के लिए जाना नहीं हुआ। उस दिन मेरी स्वाभाविक दशा लौटने में काफी समय लगा था।

मेरे जीवन का सबसे बड़ा दुःख यह है कि मैं माँ के एक आदेश का पालन नहीं कर सका। मेरी प्रथम सन्तान – मेरी बड़ी पुत्री इन्दु थी। (माँ जिसे स्नेह से 'बड़ी-खुकी' तथा मेरे भाई लालमोहन की पुत्री रानी को 'छोटी-खुकी' कहती थीं)। माँ ने उसकी शादी करने से मना किया था। उस समय इन्दु की आयु १५ वर्ष थी और वह निवेदिता स्कूल की सातवीं कक्षा में पढ़ती थी। हमारे परिवार में मेरे पिता, बड़े भाई, बड़ी दीदी, छोटे भाई और अन्य लोग मुझसे किसी कुलीन घर का योग्य वर खोजकर इन्दु का विवाह कर देने को कहने लगे। मैं सब कुछ माँ से पूछकर ही करता था। अतः इन्दु के विवाह की बात उठने पर मैंने माँ से पूछा। वे तत्काल बोलीं – "चन्दू, उसकी शादी न करके उसे पढ़ना-लिखना सिखाओ। जैसे वह निवेदिता स्कूल में पढ़ रही है, वैसे ही पढ़े।" घर लौटकर मैंने माँ का निर्देश सबको कह सुनाया। पिता तथा अन्य लोग बोले – "ऐसा कैसे होगा? लड़की शादी के योग्य हो गयी है – अभी शादी न करने से हमारी निन्दा होगी। इतनी बड़ी अविवाहित कन्या को स्कूल में पढ़ाने से ही लोग क्या कहेंगे? समाज क्या कहेगा?" मैंने फिर से माँ को ये सब बातें बतायीं। माँ ने कहा – "उसकी शादी करना उचित नहीं होगा, वह तो अच्छा-भला पढ़ रही है – पढ़ने दो न !" घर लौटकर सारी बातें कही, लेकिन उन लोगों ने माँ की बातों को महत्त्व नहीं दिया, बोले – "विधि का विधान कोई मिटा नहीं सकता, यदि उसके भाग्य में कष्ट लिखा है, तो हम क्या कर सकते हैं? लेकिन इतना अच्छा सम्बन्ध हाथ से निकल जाने पर बाद में पछताना पड़ेगा। 'जन्म-मृत्यु-विवाह ये तीन विधाता के हाथ में है।' हम लोग भला कौन होते हैं? विधाता का जैसा विधान ! उसके भाग्य में सुख रहने पर सुख मिलेगा, दुख रहने पर दुख। भाग्य में जो होगा, वही तो होगा। नियति को कौन बदल सकता है? लड़की १५ साल की हो गयी, इतने दिनों तक अविवाहित रखा, यही तुमने बड़ा अनुचित किया है। विवाह न करके अविवाहित सुन्दरी कन्या घर में रखने पर यदि कुछ अनहोनी घट जाये, तो क्या करोगे?" उनकी बातें सुनकर मेरी बुद्धि भ्रमित हो गयी। एक ओर इष्ट-रूपी उन गुरु की मनाही, जो जीवन-मरण की, मुक्ति की निःश्वास हैं, और दूसरी ओर पिता, चाचा, दीदी, भाई तथा समाज की वक्र दृष्टि ! अन्ततः उनके दबाव में आकर मैंने कन्या को उसकी नियति के हाथों में सौंप दिया। यही मेरी सबसे बड़ी भूल थी और उसी की कीमत मुझे आज भी चुकानी पड़ रही है। विवाह के कुछ वर्ष बाद मेरी पुत्री विधवा हो गयी। **तराजू के एक पलड़े में गुरु को और दूसरे पलड़े में सारे संसार को रखा जाय, तो भी वह गुरु की बराबरी नहीं कर सकता।** जगदम्बा मेरी गुरु हैं, वे ही मेरी इष्ट हैं। उनका आदेश न मानकर आज भी मैं उसका फल भुगत रहा हूँ। मेरी पुत्री अपनी चार वर्ष की कन्या और नौ महीने के पुत्र को लेकर मेरे पास लौट आयी।

अन्त में १९२० ई. की २१ जुलाई का दिन। माँ सबको छोड़कर हमेशा के लिए रामकृष्ण-लोक चली गयीं। भक्तगण जानते हैं कि माँ की मृत्यु नहीं हुई है, वे अदृश्य लोक से

सर्वदा अपनी सन्तानों की मंगल-कामना करती रहेंगी, लेकिन अब वे उन्हें अपने चर्मचक्षुओं से देख नहीं सकेंगे। टूटे बाँध की बाढ़ की भाँति भक्तों के नेत्रों से अश्रु बह रहे थे। महा-समाधि के पिछले दिन शरत् महाराज सजग प्रहरी के समान जगे रहे। यह सोचकर हम लोग भी उनके साथ रहे कि न जाने कब किसी प्रकार की जरूरत पड़ जाय। पर सभी जरूरतों का अन्त हुआ। श्रीमाँ के शरीर की शोभायात्रा के साथ मैं भी बेलूड़ मठ गया। जब चिता की अग्निशिखा ऊपर की ओर लपलपा रही थी, उस समय गंगा के पूर्व की ओर मूसलाधार वर्षा हो रही थी। लेकिन आश्चर्य! इस पार जरा भी वर्षा नहीं! चिता बुझाने के लिए शरत् महाराज ने ज्योंही एक कलश जल डाला, त्योंही अब तक रुकी हुई वर्षा ने वेगपूर्वक आकर चिता को बुझा दिया। शरत् महाराज द्वारा जल देने के पूर्व तथा बाद में भी अन्य कोई चिता में जल नहीं दे सका। लगा कि स्वर्ग के देवताओं ने जल डाला।

माँ के बाद मेरी सर्वाधिक श्रद्धा-भक्ति शरत् महाराज के प्रति ही थी। माँ ने मुझसे कहा था – "शरत् साधारण ब्रह्मज्ञ पुरुष नहीं है, वह न केवल सर्वभूतों में ब्रह्म देखता है, अपितु समस्त स्त्रियों में मुझे और समस्त पुरुषों में ठाकुर को देखता है। शरत् के समान हृदय देखने में नहीं आता, नरेन के बाद उसी का हृदय है।" वास्तव में जैसा विशाल उनका शरीर था, वैसा ही विराट् उनका हृदय था। कितने ही दुखी तथा निर्धन व्यक्तियों की, कितनी ही दुखी स्त्रियों की, कितनी ही असहाय विधवाओं की, उन्होंने गोपनीयता के साथ इतने प्रकार से सहायता की है कि इसकी कोई गणना नहीं।

एक दिन एक तरुण संन्यासी ने देखा कि शरत् महाराज दोपहर के खाने के बाद विश्राम करके बाहर निकल रहे हैं। संन्यासी ने पूछा – "महाराज, आप कहीं जा रहे हैं?" महाराज बोले – "हाँ, कुछ काम है।" यह कहकर वे चल पड़े। युवक संन्यासी के मन में कुतूहल हुआ – देखूँ कि महाराज कहाँ जाते हैं। वे थोड़ी दूरी रखकर महाराज का पीछा करने लगे। चलते-चलते महाराज एक बस्ती में पहुँचे। संन्यासी भी पीछे-पीछे आ रहे थे। शरत् महाराज ने एक मकान में प्रवेश किया। अनुसरण करते हुए संन्यासी भी उस मकान के पास गये। भीतर घुसकर उन्होंने देखा – एक छोटे-से कमरे में कंकाल-सदृश एक व्यक्ति लेटा हुआ खाँस रहा है। उसके समीप बैठकर महाराज उसकी छाती पर हाथ फेरते हुए कह रहे है – "तुम कैसे हो?" वह व्यक्ति खाँसते हुए बोला – "अच्छा कहाँ हूँ?" महाराज ने स्नेहपूर्वक कहा – "परन्तु मैं तो तुम्हें पहले से अच्छा देख रहा हूँ। दवा ठीक से खा रहे हो न? लगता है फल खत्म हो गये हैं?" वह व्यक्ति बोला – "दवा भी खा रहा हूँ, फल भी खा रहा हूँ, लेकिन आप चाहे जितनी भी चेष्टा कीजिए, चाहे जितनी भी दवा और फल मुझ खिलाइये, पर मैं जानता हूँ कि जो रोग मुझे हुआ है, उसमें मैं बचूँगा नहीं।" महाराज स्नेह-भरे कण्ठ से बोले – "कौन कहता है कि तुम नहीं बचोगे, तुम बिल्कुल ठीक हो जाओगे? ये दवाएँ और फल रखकर जा रहा हूँ, तुम ठीक से खाना।" महाराज की बातें सुनकर वह व्यक्ति रोते हुए बोला – "महाराज, आप मनुष्य नहीं, देवता हैं। इस रोग के डर से मेरे सगे-स्वजन मुझे छोड़कर चले गये और आप आकर मेरे पास निर्भय होकर बैठते हैं। मेरे लिए दवा और पथ्य की व्यवस्था करते हैं।" बाहर खिड़की से यह दृश्य देख रहे वे संन्यासी अब स्वयं को रोक न सके। दौड़कर कमरे में जाकर महाराज के चरणों में गिर पड़े। रोते हुए वे बोले – "महाराज, मैं महान् दोषी हूँ, मैंने आपके ऊपर घृणित सन्देह किया। मुझे क्षमा करें।" महाराज तो संन्यासी को देखकर अवाक् रह गये। शान्त भाव से केवल इतना ही बोले – "सन्देह को मन में न पालकर, तत्काल उसका समाधान करके तुमने अच्छा ही किया है। ऐसा ही करना चाहिए।"

महाराज के सेवक स्वामी अशेषानन्द (किरन महाराज) से उसी प्रकार की एक घटना सुनी थी। टेरिटी बाजार इलाके के एजरा स्ट्रीट के एक होटल में एक यक्ष्मा-ग्रस्त पारसी व्यक्ति से जुड़ी घटना है। उसका नाम था खोकानी। सगे-सम्बन्धियों द्वारा परित्यक्त इस एकाकी व्यक्ति को महाराज बीच-बीच में गुप्त रूप से जाकर होटल में देख आते और उसके साथ कुछ समय बिता आते। उसके बिस्तरे पर बैठकर, उसी के द्वारा छिले हुए फल वे निर्विकार भाव से खाते। कभी-कभी वह खाँसते-खाँसते ही चाकू से फल काटता और खाँसते-खाँसते ही वे फल महाराज के हाथों में दे देता।

अपने प्रति शरत् महाराज की दया की बात मैं क्या कहूँ? आज जो कलकत्ता में मुझे रहने का जो आश्रय मिला है, मैं जो खा-पीकर स्वजनों के साथ स्वच्छन्दता के साथ निवास कर रहा हूँ, उसके पीछे निश्चय ही माँ की कृपा है। पर माँ की वह कृपा शरत् महाराज के माध्यम से ही मेरे ऊपर बरसी है। अपने पिता की अन्तिम बीमारी के समय मैंने कलकत्ते के बड़े बड़े डॉक्टरों से उनकी चिकित्सा करायी थी। यह भी शरत् महाराज की व्यवस्था से ही सम्भव हो सका था, यह बात मैं पहले ही बता चुका हूँ। बंगला संवत् १३२६ के १२ बैशाख को शाम के साढ़े पाँच बजे मेरे पिता ने देहत्याग किया। उसके कई दिन पूर्व ३ बैशाख की शाम को शरत् महाराज ने मुझे बुलाकर कहा – "एक गाड़ी बुलाकर ले आओ।" मैंने पूछा – "कहाँ जायेंगे महाराज?" महाराज शान्त भाव से बोले – "तुम्हारे पिता को देखने।" उस समय पिताजी शय्याशायी थे। किसी भी दिन शरीर छूट जाये, ऐसी हालत थी। शरत् महराज प्रतिदिन मुझे बुलाकर पिताजी का

हाल-चाल पूछते। लेकिन उस दिन महाराज की बात सुनकर मैं बड़ी असहायता का बोध करने लगा। क्योंकि पहली बात तो गाड़ी का किराया देने की मेरी सामर्थ्य नहीं थी और दूसरी यह कि शोभाबाजार के सामने शिव-मन्दिर के पास नन्दराम सेन लेन के किनारे जिस सँकरी गली में पिताजी हैं, उसमें शरत् महाराज के लिए सीधा होकर चलना सम्भव नहीं था। जिन दो कारणों से मैं गाड़ी बुलाने में संकोच का अनुभव कर रहा था, बाध्य होकर मैंने वे दोनों कारण महाराज को बताये। महाराज गम्भीर होकर बोले – "गाड़ी तो ले आ, उसके बाद देखा जायेगा।" मैं गाड़ी ले आया। शरत् महाराज और मुझे लेकर गाड़ी उसी सँकरी गली के किनारे जाकर खड़ी हो गयी। गाड़ी से उतरे महाराज को लेकर गली में घुसते समय मैंने देखा, मुझे जो आशंका थी वही हुआ – शरत् महाराज सीधा चलकर उस गली में नहीं घुस पा रहे थे। उस समय मुझे बड़े संकोच का अनुभव हो रहा था। लेकिन अवाक् होकर मैंने देखा कि महाराज तिरछे होकर मेरे पीछे गली में चलने लगे। घर पहुँचकर महाराज पिताजी के सिरहाने खड़े हो गये। मुझसे बोले – "मेरे पैरों की धूल लेकर अपने पिता के सिर में लगाओ।" यह बात सुनकर निश्चय ही मेरा मन-प्राण आनन्द से भर उठा, लेकिन मुझे विस्मय भी कम नहीं हुआ। क्योंकि यह मेरी कल्पना से परे था कि जो शरत् महाराज किसी का प्रणाम नहीं लेना चाहते, वे ही इस प्रकार अयाचित करुणा से अभिभूत हो जायेंगे। अस्तु, आनन्द और विस्मय से अभिभूत होकर मैंने महाराज के पैरों की धूल लेकर पिताजी के सिर में लगाया। पिताजी ने लेटे-लेटे हाथ जोड़कर महाराज को प्रणाम किया। महाराज ने पिताजी से पूछा – "आपकी काशी जाने की इच्छा है?" पिताजी ने सिर हिलाया। उन्होंने मना क्यों किया, यह मैं नहीं जानता, तो भी मुझे लगा, अपने अन्तिम समय में शरत् महाराज के समान शिवतुल्य महापुरुष के दर्शन और आशीर्वाद से ही पिताजी को काशी में मृत्यु की आकांक्षा तुच्छ प्रतीत हुई होगी।

गाड़ी रोक रखी गयी थी। महाराज को लेकर मैं उद्बोधन लौट आया। कई दिनों बाद दोपहर का प्रसाद ग्रहण करके कार्यालय का काम कर रहा था। बाहर से कुछ किताबों का आर्डर आया था। उसे रेलवे में पार्सल करने को सियालदह स्टेशन जाने के लिए निकल ही रहा था, तभी शरत् महाराज ने आकर पूछा – "कहाँ जा रहे हो चन्द्र?" मैं बोला – "किताबें पार्सल करने सियालदह जा रहा हूँ।" महाराज बोले – "पहले घर जाकर देख आओ कि तुम्हारे पिताजी कैसे हैं, उसके बाद सियालदह जाना।" महाराज के निर्देशानुसार मैंने घर जाकर देखा – पिताजी अन्तिम साँसें ले रहे थे। महाराज को सूचना देने के लिए मैं तत्काल उद्बोधन लौट आया। उस समय महाराज विश्राम कर रहे थे। मैं उनके कमरे के दरवाजे के पास खड़ा रहा। करवट बदलते समय अचानक ही मुझे देखकर बोले – "क्या खबर है? पिताजी की कैसी हालत है?" मैं किसी प्रकार बोला – "पिताजी का अन्तिम समय आ पहुँचा है।" महाराज तत्काल उठे और दराज खोलकर कुछ रुपये मेरे हाथ में देते हुए बोले – "पिताजी का अन्तिम संस्कार करना।" उस दिन शाम को ५ बजकर ३० मिनट पर पिताजी ने देहत्याग किया। १३२६ बं. (१९२० ई.) के १२ बैशाख का दिन था। इस दिन महाराज ने अपनी डायरी में लिखा था – "Chandra's father died at 5-30 P.M."

श्रीमाँ की चरणो में आने के कुछ दिन बाद जब मुझे माँ के बारे में थोड़ी धारणा हुई, तब एक दिन मैंने उनके पास जाकर हाथ जोड़कर उनसे हठ किया था – "माँ, मैं आपकी सेवा करना चाहता हूँ।" माँ ने कहा – "चन्दू, तुम यहाँ जो कुछ कर रहे हो, वह सब मेरी ही सेवा तो है।" मैंने कहा – "नहीं माँ, वह सब करके भी मैं आपकी भी थोड़ी-सी कुछ सेवा करना चाहता हूँ।" माँ ने शान्त भाव से कहा – "नहीं बेटा, तुम उद्बोधन का जो काम कर रहे हो, वही करो। वह जैसे मेरी सेवा है, वैसे ही ठाकुर की सेवा भी है। सरला[3] तो मेरी सेवा कर ही रही है। बल्कि उद्बोधन का काम करके जब तुम्हें समय तथा सुयोग मिले, तब शरत् की सेवा करना। यदि तुम हृदय से उसकी सेवा करो और शरत् यदि तुम पर सन्तुष्ट रहे, तो जान लो तुम्हें निश्चित रूप से ब्रह्मज्ञान होगा। जो कोई भी शरत् की प्रीतिपूर्वक सेवा करेगा, मुक्ति उसके करतलगत होगी। शरत् ठाकुर का गणेश है शरत् मेरे मस्तक की मणि है। जान लेना कि पूरी दुनिया में शरत् के समान महापुरुष बहुत विरल हैं।"

माँ के देहत्याग के बाद मैंने शरत् महाराज में ही माँ को पाया था। केवल मैं ही क्यों, मेरे समान अनेक, यहाँ तक कि महिला-भक्तों ने भी शरत् महाराज में माँ को पाया था। शरत् महाराज रामकृष्णमय तो थे ही, परन्तु लगता है कि वे उससे भी अधिक माँ-मय – सारदामय थे। स्वामीजी ने उन्हें जो 'सारदानन्द' नाम दिया था, वह पूर्णत: सार्थक नाम था। मेरे जीवन का यह महान् सौभाग्य है कि मुझे इन महापुरुष के श्रीचरणों में स्थान मिला। अपने गुरु, अपनी आराध्य देवी, साक्षात् जगदम्बा श्रीमाँ की कृपा से ही मैं अपने जीवन के अनेक वर्ष उनके सान्निध्य, उनकी सेवा में बिता सका हूँ। शरत् महाराज के बारे में उन्होंने ही मेरे नेत्र खोल दिये थे।

❖ (क्रमश:) ❖

३. सरला देवी, जिन्हें बाद में संन्यास के उपरान्त प्रव्राजिका भारतीप्राणा नाम मिला और जो श्री सारदा मठ की अध्यक्ष भी हुईं। – सं.

सफलता और कर्म

स्वामी सत्यरूपानन्द

ससार में ऐसा कौन व्यक्ति है जो सफलता नहीं चाहता, जो यह नहीं चाहता कि उसकी आकाक्षाओं की पूर्ति न हो? किन्तु संसार का अनुभव हमें यह बताता है कि अधिकाश लोगों के जीवन में उनकी आकाक्षाओं की पूर्ति नहीं हो पाती। ऐसा क्यों होता है?

इसके दो प्रमुख कारण हैं। एक तो व्यक्ति अपनी आकाक्षाओं की परीक्षा नहीं करता, उनका विश्लेषण नहीं करता, वह ठीक ठीक जानता नहीं कि वह अन्ततः चाहता क्या है। और दूसरा आकाक्षा-पूर्ति के उचित साधनों का चयन न कर तथाकथित शीघ्र फलदायी साधनों के फेर में पड़ जाता है। उतना ही नहीं, उन साधनों पर भी पूरा ध्यान नहीं देता। अध्यवसायपूर्वक परिश्रम नहीं करना चाहता। किसी भी व्यक्ति के जीवन की असफलता के, उसकी आकांक्षाओं के पूर्ण न होने के ये ही दो प्रमुख कारण होते हैं।

जीवन की सफलता के लिए सर्वप्रथम इन दोनों कारणों को जान लेना, उन्हें पहिचान लेना अत्यन्त आवश्यक है। उन्हें जानकर, पहिचान कर ही हम उनके निवारण का उपाय कर सकते हैं।

कारणों को जान लेने के पश्चात् प्रश्न उठता है उनके निवारण का। उनके निवारण के भी दो प्रमुख उपाय हैं -

(१) अपनी आकाक्षाओं की परीक्षा करना। आकाक्षाएँ अनन्त हैं। किन्तु उनको पूर्ण करने के साधन और समय सीमित हैं। अतः हमें उन्हीं आकांक्षाओं का चयन करना चाहिए जो हमारे जीवन का सर्वांगीण विकास कर हमें अनन्त आनन्द तथा परम तृप्ति प्रदान करें।

केवल भौतिक समृद्धि या सत्ता और पद की प्राप्ति मानव जीवन को सर्वांगपूर्ण नहीं बना सकती। जीवन की पूर्णता के लिए भौतिक समृद्धि के साथ साथ आध्यात्मिक उपलब्धि का होना भी नितान्त आवश्यक है। अतः हमें जीवन में उन्हीं आकाक्षाओं का वरण करना चाहिए जो नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ हों तथा साथ ही हमारी भौतिक समृद्धि में भी सहायक हों।

(२) अपनी आकांक्षाओं या जीवन-लक्ष्य का चयन कर लेने के पश्चात् दूसरी महत्वपूर्ण बात है उनकी पूर्ति के उपायों का चयन। लक्ष्य के समान उसकी प्राप्ति के साधनों को भी नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ होना चाहिए। शुद्ध साधनों से ही श्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम तथाकथित शीघ्र फलदायी साधनों के फेर में न पड़ें। लक्ष्य प्राप्ति के लिए उचित और योग्य साधनों का ही वरण करें।

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि उचित साधनों का चयन सफलता के मार्ग में एक सोपान मात्र है। अंतिम लक्ष्य पर पहुँचाने वाला वाहन तो 'कर्म' ही है। हमारी सभ्यता, हमारी वैज्ञानिक उन्नति, हमारी सुख-सुविधाओं के सभी साधन उन महान् कर्मवीरों के सत् कर्मों के ही तो फल हैं, जिन्होंने सभ्यता और विज्ञान की उन्नति के महायज्ञ में अपने महान् कर्मठ जीवन की आहुति दे दी।

कर्म ही हमारी नियति है, कर्म ही हमारा भाग्य है। आज हम जहाँ हैं, जैसे हैं वह हमारे कर्मों का ही तो फल है, अतः कल हम जहाँ होंगे, जैसे होंगे, वह हमारे आज के कर्मों का ही फल होगा। हम जीवन में जो भी उपलब्ध करना चाहते हैं, जो भी होना चाहते हैं, उसकी चाभी कर्म के रूप में हमारे ही हाथों में है। हम ही हमारे भाग्य के निर्माता हैं।

❑ ❑ ❑

स्वामीजी का भविष्य-दर्शन

डॉ. ओंकार सक्सेना, एम.एस., जयपुर

(भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, शल्य-चिकित्सा विभाग, सवाई मानसिह मेडिकल कॉलेज, जयपुर)

सांस्कृतिक विरासत का मूलोच्छेदन करनेवाली तथा राष्ट्रीय जीवन में घुटन पैदा कर देनेवाली राजनीति अन्ततोगत्वा चुनौती बन जाती है। ऊर्जावान् राष्ट्र चुनौती स्वीकार करके क्रान्ति की राह पर चल पड़ता है। भारत ने भी ऐसी चुनौती स्वीकार की और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सांस्कृतिक स्तर पर और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में राजनीतिक स्तर पर इन्कलाब करके स्वतंत्रता प्राप्त की; इसके फलस्वरूप १५ अगस्त १९४७ के दिन युग-प्रवर्तन हुआ और भारत में फिर से वैज्ञानिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, व्यापारिक और प्राच्य तथा पाश्चात्य निष्ठाओं के समन्वय एवं संस्थापन द्वारा विचारों के सृजनात्मक आन्दोलन की नींव पड़ी।

स्वामी रंगनाथानन्द जी भारत के पुनर्जागरण के प्रकाश-स्तम्भ स्वामी विवेकानन्द के प्रति अपने उद्‌गार इन शब्दों में प्रकट करते हैं, "स्वामी विवेकानन्द सांस्कृतिक उन्नयन के प्रभावशाली प्रवक्ता तथा प्रतिनिधि थे। वे एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने आंग्ल-भारत के सम्बन्धन में अपने मृतप्राय समाज एवं सभ्यता को पुन: व्यापक बनाने का प्रबल साधन देखा। उनके व्यक्तित्व में अतीत एवं वर्तमान, पुरातन प्रज्ञान और आधुनिक ज्ञान का सम्मिलन था; वे अपने प्राचीन गौरव के ज्ञाता थे; वे आज के अध:पतन को गहराई से महसूस करते थे; वे हिन्दू-धर्म के आधार-स्तम्भ थे, फिर भी अन्यान्य धर्मों में अनुरक्त थे और उनका सम्मान करते थे। वे इस्लाम और ईसाई धर्म के सामाजिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुरागी थे और इसका भारतीय चिन्तन तथा जीवन-सन्दर्भ में महत्त्व समझते थे। सर्वोपरि वे विज्ञान के क्षेत्र में सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक योगदान और समाज एवं जीवन के क्षेत्र में राजनीतिक व आर्थिक योगदान की आधुनिक विचार-धारा में गहरे रँगे हुए थे। बहरहाल, वे आधुनिक सन्दर्भ में मानव-सम्बन्धों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रकार से पूर्ण अवगत थे, फिर भी उनकी भूमिका ऐसे क्रान्तिकारी देशभक्त वाली नहीं थी, जो अन्य राष्ट्रो के प्रभाव से अपने राष्ट्र को दूर रखे या जो राष्ट्रीयता के रथ-तले अन्य राष्ट्रों का दमन करता हुआ निकल जाये। उन्हें भारत से जितना प्रेम था, उतना ही वे मानवता के भी अनुरागी थे।"

मनुष्य की गौरव-शालीनता के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "भारत अथवा इंग्लैंड अथवा अमेरिका से हमें क्या? हम तो उस ईश्वर के सेवक हैं, जिसे अज्ञानी लोग 'मनुष्य' कहते हैं।"

पं. जवाहर लाल नेहरू ने अपने 'भारत की खोज' नामक ग्रन्थ में स्वामी विवेकानन्द के इस पहलू के प्रति अपनी प्रशस्ति अभिव्यक्त की है, "अतीत से बद्धमूल तथा भारत की विरासत से पूर्णतया गौरवान्वित – फिर भी, विवेकानन्द जीवन की समस्याओं के उपगमन में आधुनिक थे और भारत के प्राचीन तथा अर्वाचीन के बीच एक प्रकार से सेतु थे।"

जवाहर लाल नेहरू अन्तर्राष्ट्रीयता-वादी थे और उन्होंने स्वामीजी के मानवीय एकात्म-भाव को अपनी उपर्युक्त पुस्तक में उद्‌धृत किया है, "राजनीति एवं समाजशास्त्र में भी बीस साल पहले जो राष्ट्रीय स्तर की समस्याएँ थीं, अब उनका समाधान मात्र राष्ट्रीय स्तर पर नहीं हो सकता। उनका आकार विशाल तथा भयावह होता जा रहा है। उनका समाधान विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापन, अन्तर्राष्ट्रीय संयोजन तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधान आज की पुकार है। यही सामंजस्य है। समस्त संसार के जागरूक हुए बिना कोई प्रगति नहीं हो सकती और यह दिनो-दिन साफ होता जा रहा है कि किसी भी समस्या का समाधान जातीय, राष्ट्रीय अथवा अन्य संकुचित क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं हो सकता। प्रत्येक धारणा का इतना विस्तार हो कि वह विश्वव्यापी हो जाये, प्रत्येक आकांक्षा तीव्रतर होती होती हुई इतनी विशाल हो जाए कि वह समूचे मानव एवं जैविक संसार का अधिग्रहण कर ले।"

पुन: पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में स्वामी विवेकानन्द की राष्ट्र को चेतावनी को दुहराते हुए लिखा है, "मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र स्वयं को दूसरों से अलग रखकर जी नहीं सकता, और जब कभी गौरव, नीति अथवा पवित्रता की भ्रान्त धारणा से ऐसा प्रयत्न किया गया, तब तब उसका परिणाम उस पृथक्कर्ता पक्ष के लिए घातक सिद्ध हुआ। विभिन्न राष्ट्रों से भारत का पृथक्करण ही हमारे अध:पतन का मुख्य कारण है और इसका एकमात्र उपचार विश्व की मुख्य धारा मे लौटना है। गति ही जीवन का चिह्न है।"

स्वामी विवेकानन्द ने भारत को संसार की सांस्कृतिक शक्तियों में खींच ले जाने का आह्वान किया था – पहले राष्ट्र को संगठित बनाकर और तदुपरान्त अन्य राष्ट्रों का नैतिक नेतृत्व स्वीकार करके। विश्व की नवीन परिस्थिति में इस शक्तिशाली नैतिक दिशा-निर्देशन की भी जरूरत थी। भारत की अन्तर्राष्ट्रीय मुख्य धारा में आने के लिए उसकी

राजनीतिक स्वतंत्रता, आर्थिक प्रगति तथा सामाजिक संगठन पूर्व आवश्यकताएँ थीं, किन्तु भारत की समकालीन परिस्थितियों और आदर्शों के बीच जो विशाल दूरी थी, उसे भी शीघ्रातिशीघ्र पाटना आवश्यक था। आजादी ने राजनीतिक स्वतंत्रता तो दी, परन्तु बचे हुए दोनों कार्य इसके बाद ही होने थे। भगिनी निवेदिता ने इन शब्दों में स्वामी विवेकानन्द की व्यथा का वर्णन किया था, "गुरुदेव के स्वभाव में एक बात थी कि वे स्वयं यह नहीं जानते थे कि समायोजन किस प्रकार किया जाए और यह था उनका देश-प्रेम तथा देशवासियों की यातनाओं के प्रति रोष। उन सब वर्षों में, जब प्रतिदिन उनसे भेंट होती थी, मैंने पाया कि भारत का चिन्तन उनके श्वास-प्रश्वास में समाया हुआ है। यह भी सच है कि वे बुनियादी कार्यकर्ता थे। वे एक जन्मजात प्रेमी थे और उनकी आराधना की देवी थी उनकी प्रिय मातृभूमि। मातृभूमि से आलिप्त उनका हृदय एक नाजुक सन्तुलन से लटकी हुई घण्टी के समान था, जो प्रत्येक ध्वनि-आघात से झनझना उठता था। देश में ऐसी कोई सिसक नहीं थी, जिसने उनमें अनुक्रियात्मक प्रतिध्वनि न की हो। ऐसी कोई भी भयातुर चीख, निर्बल की कँपकँपी, विगलन की सिकुड़न न थी, जिसे उन्होंने देखा और समझा न हो। वे उसके गुनाहों से घृणा करते थे, सांसारिक ज्ञान की कमी को अक्षम्य मानते थे, वे इसमें स्वयं को दोषी मानते थे, किन्तु इसके विपरीत उसकी उत्कृष्टता के प्रदर्शन में भी दूसरा कोई उनके जितना आविष्ट न था।"

हिन्दू धर्म की सामाजिक विषमताओं की पीड़ा स्वामीजी ने अपने एक शिष्य के नाम एक पत्र में लिखी थी, "पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव को उपदेशित करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और निम्न जातिवालों का गला, ऐसी क्रूरता से घोंटता हो। प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है, वरन् दोष उनका है, जो ढोंगी और दम्भी हैं, जो 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक' सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अत्याचार के अस्त्रों का निर्माण करते हैं।"

राष्ट्र के पुनर्जागरण की प्रक्रिया के दो भाग हैं : प्रथम – आत्म-शोधन, द्वितीय – आत्म-प्रकाशन। पहले का समापन और दूसरे का उद्घाटन स्वतंत्रता-प्राप्ति के दिन हुआ था। दूसरे भाग के लिए राष्ट्र की संगठित ऊर्जा का संचार सृजनात्मक-आत्म-प्रकाशन के तीव्रीकरण पर निर्भर है। इसकी परिकल्पना राष्ट्र को है कि उसका लोकतंत्र आचार तथा आध्यात्मिक निष्ठाओं से दिव्यता प्रकाशित करता हुआ अग्रसर होगा। स्वामी रंगनाथानन्द जी लिखते हैं, "जीवन्त धर्म की कसौटी है उसके सन्तों का ईश्वर और मनुष्य में दिव्यता का अवलोकन होना है। राजनीति से घनिष्ठ अथवा दीर्घ-साहचर्य तो धर्म की आत्मा को भी नष्ट कर देता है। ... राजनीतिक आवेश से अनुप्राणित धर्म की अमानुषिकता और आत्म-विकास तथा मानव-सेवा से अनुप्राणित धर्म की अलौकिकता, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सर्वविदित है।"

स्वामी विवेकानन्द का अन्यान्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता में पूर्ण विश्वास था। इसके लिए वे आखिर तक कार्यरत रहे और अन्त में हमें यह थाती के रूप में सौंप गये। 'विभिन्न धर्मों के संगम का आशीर्वाद भारत-भूमि को सींचता रहेगा।' इस सन्दर्भ में स्वामीजी द्वारा मुहम्मद सरफराज़ हुसैन को लिखित एक पत्र को जवाहरलाल नेहरू अपनी पुस्तक में 'अद्भुत पत्र' की संज्ञा देते हुए उद्धृत करते हैं, "चाहे हम उसे वेदान्त कहें या और किसी नाम से पुकारें, परन्तु सत्य तो यह है कि धर्म और विचार में अद्वैत ही अन्तिम शब्द है और केवल उसी के दृष्टिकोण से सब धर्मों और सम्प्रदायों को प्रेम से देखा जा सकता है। हमें विश्वास है कि भविष्य के सभ्य मानव-समाज का यही धर्म है। अन्य जातियों की अपेक्षा हिन्दुओं को यह श्रेय प्राप्त होगा कि उन्होंने इसकी सर्वप्रथम खोज की। इसका कारण यह है कि वे अरबी और हिब्रू दोनों जातियों से अधिक प्राचीन हैं। परन्तु साथ ही व्यावहारिक अद्वैतवाद – जो समस्त मनुष्य-जाति को अपनी ही आत्मा का स्वरूप समझता है तथा उसी के अनुकूल आचरण करता है, का विकास हिन्दुओं में सार्वभौमिक भाव से होना अभी भी बाकी है।

"हमारी मातृभूमि के लिए इन दोनों विशाल मतों का सामंजस्य – हिन्दुत्व और इस्लाम – वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर – यही एकमात्र आशा है।

"मैं अपने मानस-चक्षुओं से भविष्य के भारत की उस पूर्णावस्था को देखता हूँ, जिसका इस विप्लव और संघर्ष से तेजस्वी और अजेय रूप में वेदान्तिक बुद्धि और इस्लामी शरीर के साथ उत्थान होगा।"

विश्वव्यापी परिवेश में सहिष्णु हिन्दू के चिन्तन को स्वामी रंगनाथानन्द जी इस प्रकार देखते हैं, "आध्यात्मिक संयुक्ति, आर्थिक शक्ति व सामाजिक स्थिरता तथा नैतिक भावातिरेक से सराबोर भारत संसार में अद्भुत शक्ति बनेगा। स्वामी विवेकानन्द का भविष्य के भारत का यही स्वप्न था। संसार को भारत से बहुत आशाएँ हैं, क्योंकि सभ्यता की स्थिरता, प्रभावी विश्व-शक्तियों के उचित आचरण तथा आध्यात्मिक निदेशन पर निर्भर है। क्या भारत विश्व की इस पुकार को सुनेगा, स्वामीजी का कहना है – अवश्य सुनेगा। और वह इसके लिए सक्षम है। स्वतंत्र भारत दिव्य-निष्ठा तथा दिव्य-दर्शन लेकर आगे बढ़े। उठो, जागो और लक्ष्य-प्राप्ति के पूर्व विश्राम न लो।"

❑❑❑

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे है। – सं.)

– ३२ –

अर्जुन का गर्व-भंग

एक बार भगवान श्रीकृष्ण के प्रिय सखा अर्जुन के मन में बड़ा गर्व उत्पन्न हुआ कि 'मैं भगवान का सबसे बड़ा भक्त हूँ।' अन्तर्यामी भगवान उनके गर्व को चूर्ण करने हेतु एक दिन उन्हें अपने साथ लेकर घूमने गए। जाते-जाते एक जगह उन्होंने एक ब्राह्मण को देखा। वह सूखी घास खा रहा था, पर उसकी कमर में एक तेज तलवार लटक रही थी। अर्जुन तत्काल समझ गये कि ये परम वैष्णव हैं, अहिंसा पालन ही उनका धर्म है, यहाँ तक कि वह हरी घास तक को वे जीवनयुक्त समझकर नहीं खाते, केवल सूखी घास खाकर ही पेट भरते हैं। परन्तु ऐसे परम वैष्णव की कमर में भला तलवार क्यों? इस विरोधाभास को देखकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा, "यह कैसी विचित्र बात है! इनमें एक ओर परम अहिंसा का भाव दिखाई दे रहा है, और दूसरी ओर घोर हिंसा का प्रतीक भी है! इसका कारण क्या है? मेरी तो समझ में नहीं आता।" श्रीकृष्ण ने कहा, "तुम उसी से पूछ लो न।" तब अर्जुन ने ब्राह्मण के निकट जाकर पूछा, "महाराज, आप तो जीवहिंसा नहीं करते, सूखी घास खाया करते हैं, तथापि आपके पास यह तलवार क्यों?" ब्राह्मण बोले, "यह तलवार मैंने चार जनों को दण्डित करने के लिए रखी है।"

अर्जुन – किस-किसको दण्डित करेंगे?

ब्राह्मण – पहले तो उस दुष्ट नारद को!

अर्जुन – क्यों, क्या किया है उन्होंने?

ब्राह्मण – वह दुष्ट न दिन देखता है न रात, जब देखो गाते-बजाते हुए मेरे प्रभु को परेशान किये रहता हैं!

अर्जुन – अच्छा, दूसरा कौन है?

ब्राह्मण – प्रह्लाद। उस पाजी ने भगवान की नवनीत-सी कोमल देह को कठोर स्फटिक-स्तम्भ के भीतर से निकाला!

अर्जुन – और तीसरा कौन है?

ब्राह्मण – वह दुष्टा द्रौपदी है।

अर्जुन – उसने क्या किया?

ब्राह्मण – उस पापिन की ऐसी हिम्मत। उसका अविवेक तो देखो – जब भगवान भोजन करने बैठे थे, तभी उन्हें पुकार बैठी। थोड़ी देर ठहर जाती, तो उसका क्या बिगड़ जाता! और उसकी धृष्टता तो देखो, ऊपर से उन्हें अपना जूठा भी खिला दिया!

अर्जुन – और चौथा किसे दण्डित करना है?

ब्राह्मण – दुष्ट नराधम अर्जुन को।

अर्जुन – क्यों? उसने ऐसी क्या भूल कर डाली है?

ब्राह्मण – उस मूर्ख का ऐसा दुस्साहस कि मेरे प्रिय भगवान को अपना सारथी बना लिया!

ब्राह्मण के भक्तिभाव की गहराई को देख अर्जुन स्तम्भित और मुग्ध हो गये। उनका यह अहंकार चूर्ण हो गया कि मैं ही भगवान का सबसे बड़ा भक्त हूँ।

– ३३ –

संसार में कोई भी अपना नहीं

'मैं' और 'मेरा' – यही अज्ञान है। यथार्थ ज्ञानी कहता है – "हे ईश्वर! सब कुछ तुम्हीं कर रहे हो और मेरे अपने आदमी तुम्हीं हो। यह सब घर-द्वार, परिवार, सगे-सम्बन्धी, मित्र – यह सारा संसार तुम्हारा है।' इसके विपरीत अज्ञानी कहता है – "मैं ही सब कुछ कर रहा हूँ, मैं मालिक हूँ, घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, बाल-बच्चे – सब मेरे हैं।"

गुरुदेव ये ही सब बातें शिष्य को समझा रहे थे। कह रहे थे – "संसार मिथ्या है, एकमात्र ईश्वर ही तेरे अपने हैं, अन्य कोई तेरे अपने नहीं। तू मेरे साथ निकल चल।"

शिष्य ने कहा – 'महाराज, ये सब मुझे इतना चाहते हैं – मेरे पिताजी, मेरी माँ, मेरी स्त्री – इन्हें छोड़कर मैं कैसे जाऊँ? ये लोग मेरा इतना खयाल रखते हैं! किसी दिन बाहर से लौटने में देरी हो जाय, तो पिताजी चिन्तित हो जाते हैं, माँ मनौतियाँ मनाती है और पत्नी तो बिना कुछ खाये-पीये मेरी राह देखती रहती है। मेरे न रहने पर तो इनके लिए पूरे संसार में दु:ख का अँधेरा छा जायेगा। मैं इन लोगों का प्यार छोड़कर आपके साथ भला कैसे चला जाऊँ!"

गुरुदेव ने कहा – "तू जो 'मेरा-मेरा' करता रहता है और सोचता है कि ये सब प्यार करते हैं, यह सब तेरे मन का भ्रम है। मैं तुझे एक उपाय बताता हूँ, उसे करके देख, तो तू समझ जायेगा कि ये लोग तुझे सचमुच प्यार करते हैं या कि यह सब महज दिखावा है। दवा की ये गोलियाँ अपने पास रख। घर जाकर इन्हें खा लेना और बिस्तर पर लेटे रहना। इससे तेरी हालत मुर्दे जैसी हो जायेगी, परन्तु तेरी चेतना नष्ट न होगी, तू सब देख-सुन सकेगा। लोग समझेंगे कि तेरी देह छूट गयी है और तभी मैं पहुँच जाऊँगा। फिर क्रमश: तेरी पहले जैसी अवस्था हो जायेगी।"

यह कहकर एक दवा उन्होंने उसके हाथ में दी। शिष्य ने वैसा ही किया। घर जाकर उसने गोलियों को खा लिया। थोड़ी देर में वह बेहोश हो गया। उसकी हालत देखकर पूरे घर में कुहराम मच गया। उसकी माता, उसकी स्त्री उल्टी पछाड़ें खाने लगीं, अपने सिर के बाल नोचने लगीं और छाती पीट-पीटकर रोने लगीं।

उसी समय गुरु वैद्य के रूप में वहाँ पहुँच गये और पूछने लगे, "यहाँ क्या हुआ है?" वे लोग सिसकियाँ भरते हुए बोले, "महाराज, इस लड़के को राम ले गये।"

उन्होंने सब कुछ सुनने के बाद मुर्दे का हाथ रखकर देखा और बोले, "यह क्या ! यह तो मरा नहीं है। मैं एक दवा देता हूँ, उसके खाने से यह अभी चंगा हो जायेगा।"

डूबतों को मानो तिनके का सहारा मिल गया – घरवाले बड़े प्रसन्न हुए। रोना-पीटना सब बन्द हो गया। परन्तु तभी वैद्यराज ने कहा, "परन्तु एक बात है। यह दवा पहले आप में से किसी एक को खानी होगी, फिर यह उसे दी जायेगी। परन्तु इसका जो सम्बन्धी यह गोली खायेगा, उसकी मृत्यु हो जायेगी। और यहाँ तो इसकी माँ भी हैं और स्त्री भी बहुत रो रही है, इनमें से कोई-न-कोई अवश्य ही दवा खा लेगी। इस प्रकार यह जी उठेगा।" वैद्य की बातें सुनते ही सभी लोग सन्न रह गये। शिष्य लेटा-लेटा सब कुछ सुन रहा था।

वैद्य ने पहले उसकी माता को बुलाया। माँ रोती हुई धूल में लोट रही थी। उसके आने पर वैद्यराज ने कहा, "माँ, अब तुम्हें रोना न होगा। तुम यह दवा खाओ तो लड़का जरूर जी उठेगा, पर इससे तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी।" माँ दवा हाथ में लिये सोचने लगी। बहुत कुछ सोच-विचार के बाद रोते हुए बोली – "बाबा, मेरा परिवार बहुत बड़ा है। मेरे और भी एक लड़का तथा एक लड़की है। यही सोच रही हूँ कि मैं यदि मर गयी, तो फिर उनका क्या होगा? यही सोच रही हूँ कि कौन उनकी देख-रेख करेगा, कौन उन्हें खाने को देगा?"

तब उसकी स्त्री को बुलाकर उसके सामने दवा रख दी गयी। उसकी स्त्री भी खूब रो रही थी। दवा हाथ में लेकर वह भी सोचने लगी। उसने सुना था, दवा खाने पर मृत्यु अनिवार्य है। तब उसने रोते हुए कहा, "किसी के मरने-जीने में भला किसी का क्या हाथ ! उन्हें जो होना था, सो तो हो गया, मेरे दो-तीन नाबालिग लड़के-बच्चे हैं, मैं यदि मर गयी, तो फिर इन्हें कौन देखेगा? इनका क्या होगा? उनकी देखभाल कौन करेगा? तो फिर ... मैं दवा कैसे खाऊँ?"

तब तक शिष्य पर जो नशा था, वह उतर गया। वह समझ गया कि कोई किसी का नहीं है। तुरन्त उठकर वह गुरु के साथ चला गया। गुरु ने कहा, "तुम्हारे अपने बस एक ही आदमी हैं – ईश्वर। अत: वही करना चाहिए जिससे उनके पादपद्मों में भक्ति हो – जिससे वे मेरे हैं, इस बोध के साथ भक्ति हो और वही अच्छा भी है। देखते हो न, संसार केवल दो दिनों के लिए है। इसमें और कहीं कुछ नही है।"

– ३४ –

परिवार का साथ कब तक

एक शिष्य और था। उसने अपने गुरु से कहा था, "महाराज, आप संसार छोड़ने के लिए तो कहते हैं, परन्तु मेरी स्त्री मेरी बड़ी सेवा करती है, उसी के कारण मैं संसार नहीं छोड़ सकता।" वह शिष्य हठयोग करता था। गुरु ने उसे भी एक उपाय बतलाया।

सहसा उसके घर में खूब रोना-धोना मच गया। पड़ोसियों ने आकर देखा, हठयोगी घर में आसन लगाकर बैठा हुआ था, देह के पुर्जे-पुर्जे टेढ़े हो गये थे। सबने समझा, उसके प्राण निकल गये हैं। स्त्री पछाड़ें खाकर रो रही थी – "अरे, मेरे भाग्य में क्या यही लिखा था रे, हम अनाथों को छोड़कर तुम कहाँ चले गये – हाय राम – अरी, मेरी दीदी री – ऐसा होगा यह मैं नहीं जानती थी री ...!"

इधर उसके आत्मीय और मित्र खाट ले आये। उसे घर से निकालने लगे। इसी समय एक अड़चन हुई। पूरी देह अकड़ जाने के कारण लाश कोठरी के द्वार से निकलती ही न थी। एक पड़ोसी दौड़कर कुल्हाड़ी ले आया और चौखट को काटने लगा। स्त्री बाहर पछाड़ें खा-खाकर गिर रही थी, दहाड़ें मार-मारकर रो रही थी। काटने की आवाज़ सुनकर दौड़ी हुई भीतर आयी। रोते हुए उसने पूछा – "यह क्या करते हो, भैया?" वे लोग बोले, "ये नहीं निकलते, इसलिए चौखट काट रहा हूँ।' तब स्त्री ने कहा – "अरे मेरे भैया – ऐसा न करो, मैं तो अब राँड़ हो ही गयी हूँ ! मेरे घर का सँभालने वाला तो अब कोई रहा ही नहीं, कुछ नाबालिग बच्चे हैं, उन्हें पालकर आदमी बनाना है ! यह दरवाजा चला जायेगा, तो दूसरा होने से रहा। उन्हें तो जो होना था; सो हो ही चुका – उन्हीं के हाथ-पैर काट दो।"

स्त्रियाँ बड़ा ढोंग करके रोती हैं। रोने की खबर मिलती है, तो पहले नथ खोल डालती हैं, फिर बाकी सब गहने खोलकर सन्दूक के अन्दर रखकर ताला लगाकर सुरक्षित रख देती हैं। फिर पछाड़ खा-खाकर रोती हैं – "अरी दीदी – मेरा यह क्या हुआ री ...।" परन्तु वह भी सावधानी से कि कहीं बँधी हुई नथ टूट न जाय !"

हठयोगी उठकर खड़ा हो गया। खड़े होकर उसने कहा – "क्यों री कुलच्छिनी, मेरे हाथ-पैर कटवाती है?" यह कहकर घर छोड़ गुरु के पास चला गया।

❖ (क्रमशः) ❖
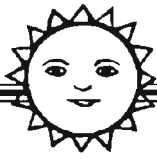
चार कवितायें
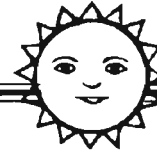
देवेन्द्र कुमार मिश्रा, छिन्दवाड़ा (म.प्र.)

(१)

बोझ ढोने की आदत छोड़ो
तुम कुली से ज्यादा कुछ
बन ही नहीं पाते ।
तन पे बोझ और मन पे टनों का बोझ ।
क्या आवश्यकता है भार ढोने की !
और वो भी व्यर्थ के ।
घर, पत्नी, बच्चे, नौकरी, पढ़ाई
रोजी, रोटी और न जाने क्या क्या?
ये तो जिम्मेदारी है निभाओ
इसका भार मत चढ़ाओ
सब प्रभु का, सब प्रभु के
वजन हल्का करो
निर्भर और निर्भार होकर जियो ।

(२)

समय का समय निश्चित होता है
समय के लिए कोई बड़ा नहीं
और कोई छोटा भी नहीं
समय सब पर आता है
समय सब का आता है
समय प्रार्थनायें और मिन्नतोंवाली
चापलूसी पसन्द नहीं करता
समय निष्पक्ष, नियमबद्ध है
क्या देव, क्या दानव, क्या मानव
समय किसी को नहीं छोड़ता ।
समय सबसे बड़ा तानाशाह है
समय किसी के आँसुओं से
नहीं पिघलता ।
समय झुकता भी नहीं,
समय रुकता भी नहीं
समय कब किस पर कैसा आ जाये -
कहा नहीं जा सकता
समय की कोई सानी नहीं ।

(३)

तुम ही कहते रहते हो,
कुछ हमारी भी तो सुनो
हमारी परेशानी रोटी नहीं है
तुम रोटी का वायदा करते हो
रोटी तो हमें मिल ही रही है
रोटी नहीं चाहिए ।
हमें तो चाहिए जीत - अपने अहंकार की ।
अपने लोभ, मोह, क्रोध की
इसके लिए चाहे हमें
महाभारत ही क्यों न लड़ना पड़े
पर जीत चाहिए
अब की लड़ाई में दोनों ओर
दुर्योधन होंगे
युद्ध-ही-युद्ध होगा
दोनों नहीं बचेगें -
मैं जानता हूँ
फिर भी हमें जीत चाहिए ।

(४)

आप अपने हर पल
को मारते रहे
आनेवाले पल की सोच में
कल क्या होगा
कल कैसा होगा
कल की सोच में भविष्य-वक्ताओं
की दुकानें खुलीं
और खूब चलीं
आपके कल ने हर पल को मारा
आपके कल ने बैंक बेलेंस
और तिजोरियाँ भरवा लीं
सुख चैन छीन डाला
आप आज जी ही न सके
और आपका कल कभी आया ही नहीं ।

स्वामी विवेकानन्द का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

स्वामी स्वात्मानन्द पुरी, होशंगाबाद

वर्तमान भारत के युगद्रष्टा, विश्व के युगाचार्य, दार्शनिक तथा समाज-सुधारक, राष्ट्रीय स्वाधीनता के अग्निमंत्र-प्रदाता, ब्रह्मज्ञ, विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द का महाप्रयाण हुए सौ वर्ष बीत चुके। इतने गुणों से विभूषित इन महामनीषी ने अपनी ३९ वर्ष की अल्प आयु में ही इस देश के लिये क्या नहीं किया! उन्हीं के शब्दों में 'कोई दूसरा विवेकानन्द होता, तो समझ पाता कि इस विवेकानन्द ने क्या किया है' – यह कोई दम्भयुक्त उक्ति नहीं, अपितु हम भारतवासियों के चिन्तन हेतु एक भावपूर्ण उद्गार है। हम भारतवासी अपने महापुरुषों की धूप-दीप से पूजा करना तो जानते हैं, पर उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर अग्रसर होने में उत्साहित नहीं होते। इतनी जनसंख्या तथा स्वाधीनता हुए ५० वर्ष बीत जाने के बावजूद विभिन्न क्षेत्रों में हमारी प्रगति अत्यल्प ही दिखाई देती है। यह इसलिए कि हमने नवभारत के मंत्रद्रष्टा स्वामी विवेकानन्द के आह्वान को नहीं सुना; और उनके पथ-निर्देशों को न तो ठीक से समझा और न ही सच्चे हृदय से अपनाया।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि स्वयं लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, नेताजी सुभाष, पं. नेहरू, समकालीन स्वतंत्रता-सेनानियों तथा क्रान्तिकारियों ने स्वामी विवेकानन्द से सन्देश व प्रेरणा पाकर ही हमें बेशकीमती आजादी दिलवाई, परन्तु स्वतंत्र भारत ने स्वामी विवेकानन्द के राष्ट्र-निर्माणक सन्देश को क्रियान्वित करना भुला दिया। आज जरूरत है स्वामीजी द्वारा निर्दशित 'मनुष्य बनानेवाली शिक्षा' के प्रचार-प्रसार तथा रूपायन की। देश में प्रतिभाओं की कमी नहीं है, अभाव है तो केवल त्याग-सम्पन्न तथा दूरदर्शी नेतृत्व का।

अस्तु, यहाँ पर हम स्वामी विवेकानन्द को जिस रूप में समझने का प्रयास करेंगे, वह है उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण। वर्तमान युग विज्ञान और तकनीकी का युग माना जाता है। साधारणत: हम स्वामीजी को एक अध्यात्म-सम्पन्न संन्यासी या समाज-सुधारक के रूप में ही जानते हैं। परन्तु कम लोग ही जानते होंगे कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण उनमें बचपन से ही कूट-कूट कर भरा था। बचपन से ही प्रखर बुद्धि, निर्भयता-पूर्ण व्यक्तित्व तथा जिज्ञासु प्रवृत्ति से लैश होने के कारण किसी भी बात को बिना परखे मान लेना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। बचपन में अपने साथियों के साथ घर के पास के पेड़ों पर चढ़कर उछल-कूद मचाने पर माली द्वारा भय दिखाना कि उस पर भूत है और उन लोगों के गर्दन मरोड़ सकता है – इससे भयभीत होकर अन्य साथियों का भागना, पर बालक नरेन्द्र (बाद में स्वामीजी) का वृक्ष पर बैठे-बैठे ही माली का उपहास करना – 'यदि ऐसा ही होता, तो अब तक वह कबका मेरी गर्दन मरोड़ चुका होता' और इस प्रकार साथियों का भय दूर करना, उसी दिशा में एक दृष्टान्त है।

दूसरी घटना में अपने बैरिस्टर पिता के दफ्तर में विभिन्न जातियों के मुवक्किलों के लिए अलग-अलग हुक्के रखे देखकर पिता से कारण पूछे जाने पर उन्होंने सुना कि निम्न जातिवालों के हुक्के का उपयोग करने से ऊँची जातिवालों की जाति चली जाती है, तो ५-६ वर्ष के नरेन्द्र ने इसे परखने की ठानी और स्वयं निम्न जाति के हुक्के को मुँह से लगाकर देखने लगे। पिता के द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर वे सरल शब्दों में बोले – "देख रहा था कि मेरी जाति कैसे जाती है?"

युवावस्था में जब वे धर्म तथा ईश्वर के विषय में जिज्ञासु हुए, तो सभी धर्मों के सन्तों, महात्माओं तथा आचार्यों से उनका सीधा सवाल होता – "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?" और उनके इस सीधे सवाल का सन्तोषप्रद जवाब न मिलने पर उन आचार्यों को उनके कटाक्ष-युक्त शब्दों का सामना करना पड़ता था। केवल परमहंस श्रीरामकृष्ण से ही उन्हें पहली बार पूर्ण आत्मविश्वास के युक्त सीधा उत्तर मिला – "मैने न केवल देखा है, अपितु उनसे बातें भी की हैं और चाहे तो तुझे भी दिखा सकता हूँ। मगर कितने लोग ईश्वर-दर्शन की चाह रखते हैं। सभी तो दुनियादारी के चक्कर में जगत् की अन्य सारी चीजों में अटके हैं; बोल तो, ईश्वर को कौन चाहता हैं?" इन अनुभूतिपरक शब्दों के कारण ही युवा नरेन्द्र ने उनके चरणों पर बैठकर अपनी आध्यात्मिक प्यास बुझाई और स्वामी विवेकानन्द हुए।

उपरोक्त प्रसंग में परमहंस श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर-दर्शन के सन्दर्भ में उनसे कोई जादुई कमाल या सिद्धि की बात नहीं की। वे साधक को उसके अपने ही हृदय की प्रयोगशाला में उसके स्वत: के ही अथक प्रयास से अन्वेषण या अनुसन्धान में मार्ग-दर्शन मात्र करते थे। इस तरह स्वामी विवेकानन्द के ईश्वरानुसन्धान में भगवान श्रीरामकृष्ण गाइड का कार्य कर रहे थे। कितने आश्चर्य की बात है! एक अपढ़ पुजारी ने परम आत्म-विश्वास के साथ कॉलेज के प्रखर मेधावी, तेजस्वी, ज्ञानवान व्यक्तित्ववाले नरेन्द्र के भावी आध्यात्मिक विज्ञान के प्रयोगों में गाइड होने का भार लिया और उन्हें आध्यात्मिकता की चरम अवस्था में पहुँचाया अर्थात् निर्विकल्प समाधि की भी अनुभूति करायी। युवा नरेन्द्र गुरुदेव की हर बात ऐसे ही स्वीकार करनेवाले व्यक्ति नहीं थे। हर बात को कसौटी पर परखना, अनुभव करना और सत्य सिद्ध होने पर ही उसका

आजीवन पालन करना – यही उनके सीखने की पद्धति थी।

उदाहरणार्थ श्रीरामकृष्ण त्याग की चरमवस्था में सिद्ध होने के कारण रुपये-पैसे छू तक नहीं पाते थे। धातु-स्पर्श से उनके हाथों की उंगलियाँ ऐंठ जाती थीं। नरेन्द्र ने परीक्षा करके देखने का विचार किया कि कहीं यह उनका दिखावा मात्र तो नहीं है, अत: एक दिन श्रीरामकृष्ण की अनुपस्थिति में उन्होंने उनके कमरे में जाकर उनके बिस्तर के नीचे तख्त पर एक सिक्का छिपाकर रख दिया। लौटकर उस तखत पर बैठते ही श्रीरामकृष्ण को ऐसी पीड़ा हुई मानो बिच्छू ने डंक मारा हो। उनकी चीत्कार सुनकर लोग दौड़े आये और उनके बिस्तर को झाड़ने पर धातु का सिक्का फर्श पर गिर पड़ा। नरेन्द्र यह सब देखकर शर्मिन्दा हुए, पर श्रीरामकृष्ण इस पर आनन्दित हुए और अपने प्रिय शिष्य नरेन्द्र को प्रोत्साहित करते हुए बोले, "हाँ, सच्चा साधक गुरु को रात में और दिन में परीक्षा करके ही उन्हें स्वीकार करे।" अनपढ़ गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस देव अपने पढ़े-लिखे शिष्य से भी ज्यादा वैज्ञानिक भाव रखनेवाले थे।

अब हम स्वामीजी के भारत-भ्रमण के दिनों पर आते हैं। परिव्रज्या के दौरान संन्यासी साधारणत: तीर्थों में भ्रमण करते हुए साधुसंग तथा अपने आध्यात्मिक ज्ञान में वृद्धि का संकल्प ररखते हैं, पर स्वामीजी के परिव्राजक जीवन का लक्ष्य केवल इतना ही नहीं, अपितु तत्कालीन भारतवर्ष के, उसके प्रत्येक भाग के लोगों के साथ घुल-मिलकर देश की दशा का गहराई से अवलोकन तथा इसकी समस्याओं के समाधान पर चिन्तन-मनन करना भी था और इसके लिए उन्होंने पूरब से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक पैदल ही नगरों, गाँवों, जंगलों, गुफाओं में विचरण करते हुए किसानों, मजदूरों, वकीलों, प्राध्यापकों, व्यापारियों, हरिजनों, वनवासियों से लेकर महाराजाओं के प्रासादों तक में आतिथ्य स्वीकार किया और विविध प्रकार के लोगों के साथ रहकर तत्कालीन भारत की समस्याओं का व्यावहारिक अध्ययन किया और एक सच्चे वैज्ञानिक की तरह अपनी भूख-प्यास भूलकर रात-दिन देश की पीड़ित जनता के कष्ट-निवारण के उपाय सोचते रहे। विशेषत: भारत के अन्तिम छोर पर स्थित कन्याकुमारी में समुद्र के बीच स्थित शिला पर उन्होंने कई दिन गहन चिन्तन किया। उस समय यही था उनके ध्यान का विषय और वहीं उन्हें देश की समस्याओं का समाधान मिला। उन्होंने पाया कि भारत की दुर्दशा का मूल कारण है – यहाँ की निर्धनता, अशिक्षा, ऊँच-नीच का भेद, नारियों तथा आम जनता के प्रति उदासीनता और धर्म के नाम पर अन्धविश्वासों का प्रसार। इन्हें दूर करना ही उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया। तत्पश्चात् भारत के लोगों के पुनर्जागरण के लिये उन्हें हमारे वेदकालीन भारतीय समाज के आदर्शों तथा उच्च उपलब्धियों की याद दिलाई और समस्याओं को हल करने के लिये शिक्षा के प्रसार पर बल दिया। इसके लिए उन्होंने तत्कालीन पढ़े-लिखे लोगों तथा राजा-महाराजाओं को जो आह्वान किया था, वह उनके सुप्रसिद्ध 'भारतीय व्याख्यान' ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। इन व्याख्यानों से उन्होंने विशेषत: युवा पीढ़ी को अनुप्रेरित किया, जिससे उनकी मातृभूमि के प्रति श्रद्धा व प्रेम बढ़े और वे आलस्य व अनास्था की बेड़ियों को काटकर निर्भयता के साथ पुनर्जाग्रत हों; देश की स्वतंत्रता को प्रथम लक्ष्य बनावें और त्याग व सेवा के आदर्श को अपनाएँ। दूसरी ओर उन्होंने भारत की गरीबी को दूर करने हेतु अमेरिका में जाकर 'विश्व-धर्मसभा' में भारत के सनातन धर्म की महत्ता व उसकी वैज्ञानिकता दिखाने का संकल्प लिया और साथ-ही-साथ विदेशों में समकालीन विज्ञान और तकनीकी ज्ञान के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करने का अवसर प्राप्त किया।

युगद्रष्टा होने के नाते उन्हें ज्ञात था कि बीसवीं सदी और उसके बाद विश्व में विज्ञान और तकनीकी का युग होगा। विज्ञान के छात्र न होने के बावजूद वे समकालीन विज्ञान के सभी अनुसन्धानों से पूर्णत: परिचित थे। इसी कारण सर जगदीशचन्द्र बोस, लॉर्ड केल्विन, लॉर्ड एमर्सन जैसे उस काल के वैज्ञानिक उनके अच्छे मित्रों में थे।

शिकागो में धर्म-महासभा के अलावा एक विशाल विज्ञान एवं तकनीकी-ज्ञान सम्बन्धी प्रदर्शनी भी आयोजित हुई थी, जिसमें विश्व के प्रमुख वैज्ञानिकों ने अपनी खोजों से सम्बन्धित उपकरणों तथा संयंत्रों का प्रदर्शन किया था। लगभग उन्हीं दिनों विद्युत बल्व, डायनेमो, ग्रामोफोन, टेलीफोन आदि के आविष्कार हुए थे, जो प्रदर्शनी में जनता के अवलोकनार्थ रखे गए थे। स्वामीजी ने भी इन वैज्ञानिक प्रदर्शनी का निरीक्षण किया और काफी जानकारी प्राप्त की थी।

पाश्चात्य लोगों को वेदान्त के गूढ़ तत्त्वों का बोध कराने हेतु भी स्वामीजी ने कुछ वैज्ञानिक तथ्यों का उपयोग किया था। विद्युत्, गति, बल सम्बन्धी सिद्धान्तों के काफी सन्दर्भ उनके व्याख्यानों में मिलते हैं। दो बातों का उल्लेख उनके भाषणों में प्राय: दिखाई देता है – जूल का वह प्रयोग जिसके फलस्वरूप ऊर्जा के संरक्षण का सिद्धान्त निकला और जीव-वैज्ञानिक डार्विन का 'विकासवाद का सिद्धान्त'। स्वामीजी अपनी अद्भुत मेधा तथा प्रखर बुद्धि से इन वैज्ञानिक तथ्यों के वेदान्तिक सत्यों के साथ तादात्म्य को समझ गये थे। इसके कारण उनकी वेदान्त-चर्चा पूर्णत: नवीन, व्यावहारिक और तर्कसंगत होती थी। शिकागो-धर्म-महासभा में 'हिन्दू-धर्म पर अपने भाषण में उन्होंने कहा था – 'भौतिक विज्ञान में एक ऊर्जा को दूसरी ऊर्जा में रूपान्तरित करने हेतु अपनाये हुए सिद्धान्त एवं हिन्दुओं के 'अनेकता में एकता' की खोज में सामंजस्य है।' उन्होंने बताया कि विज्ञान और धर्म, दोनों में अनेकवाद और विभिन्नता से ही एकता का मार्ग प्रदर्शित

होता है। राजयोग विषय पर वे कहते हैं – 'सभी विज्ञानों का लक्ष्य 'एकत्व' की प्राप्ति ही है। प्रकृति में 'एक' ही अनेक रूपों में दिखता है – **एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति।**

वेदान्त को समझाते हुए स्वामीजी कहते हैं – "ब्रह्माण्ड का एक भी परमाणु सारे जगत् को अपने साथ खींचे बिना नहीं हिल सकता" और इसे हम आज के भौतिक-वैज्ञानिकों के 'सार्वभौमिक परस्पर सिद्धान्त' के समकक्ष ही कह सकते हैं। ध्यान रहे कि हूबहू सामंजस्य की आशा करना कठिन है, तथापि स्वामीजी का 'विश्व-व्यापकता' तथा 'पूर्णता' विषयक तत्त्व-चिन्तन उनके असाधारण ज्ञान का द्योतक है।

स्वामीजी किसी ऐसे मत के समर्थक नहीं थे कि कहीं ऊपर आकाश में बैठे ईश्वर ने इस ब्रह्माण्ड का निर्माण किया होगा। उन्होंने कहा – "Something can not be created out of nothing." – "कोई भी वस्तु शून्य से नहीं बन सकती।" उन्होंने पाश्चात्य लोगों को बारम्बार बताया कि कैसे १९वीं सदी के विज्ञान ने पश्चिम में प्रचलित ईश्वर-सम्बन्धी धारणा को हिला दिया है। इसके विपरीत वेदान्त का अध्यात्म-वाद कहता है – 'सृष्टि का अर्थ निर्माण नहीं, अपितु पूर्ण ब्रह्म से इस पूर्ण जगत् का रूपान्तरण मात्र है –

पूर्णमदः पूर्णम् इदम् पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णम् एव अवशिष्यते।।
।। ईशावास्य उप. ।।

वेदान्त के अनुसार 'निर्माण और विनाश' केवल द्रव्य के रूपान्तरण की अवस्था है। प्रत्येक पदार्थ शाश्वत है, शाश्वत रहेगा। कालान्तर में केवल उसका रूप बदलता है।

स्वामीजी के मतानुसार आध्यात्मिक सत्य भी विज्ञान की तरह अनुसन्धान की कसौटी पर परखे जाने के उपयुक्त होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कोई भी धार्मिक सिद्धान्त उपयुक्त तर्क के अभाव में भावी पीढ़ी द्वारा अपनाये जाने में असमर्थ रहेगा और इस दृष्टि में वेदान्त ही खरा उतरता है।

संन्यासी विवेकानन्द भारत की वैज्ञानिक तथा तकनीकी उन्नति के लिये भी काफी प्रयत्नशील थे। जापान से अमेरिका की यात्रा के दौरान जहाज में उनकी जमशेद जी टाटा से भेंट हुई थी, जो उस समय विदेशी माल के आयात-निर्यात का व्यापार करते थे। टाटा स्वामीजी की बहुमुखी प्रतिभा से बड़े प्रभावित हुये। स्वामीजी ने उन्हें सलाह दी थी कि देश में विज्ञान और तकनीकी शिक्षा एवं अनुसन्धान के लिए एक संस्था का निर्माण किया जाय। जमशेदजी टाटा स्वामीजी की बातों की गहराई भाँप गये और बाद में बंगलोर के 'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस' के रूप में स्वामीजी का वह स्वप्न साकार किया। यद्यपि विवेकानन्द इसे नहीं देख सके।

उन्होंने टाटा को आयात-निर्यात के व्यापार की तुलना में उद्योगों की स्थापना पर अधिक बल देने को कहा था। आर्थिक लाभ की दृष्टि से भी और देश की उन्नति की दृष्टि से भी। उन्हीं दिनों मध्य भारत तथा बिहार के वन्य अंचल में लौह-अयस्क तथा कोयले का विशाल भण्डारों की खोज हुई थी। स्वामीजी देश के सारे महत्त्वपूर्ण समाचारों का आकलन किया करते थे। कहते हैं कि उन्हीं के सलाह पर टाटा ने जमशेदपुर में इस्पात के कारखाने का निर्माण-कार्य हाथ में लिया। टाटा का यह इस्पात उद्योग भारत की भावी औद्योगिक प्रगति के लिए मेरुदण्ड सिद्ध हुआ।

भारत में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी पर शोध तथा शिक्षण की दृष्टि से बंगलोर का 'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस' (भारतीय विज्ञान संस्थान) भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्थाओं में से एक है। यदि हम इसे भारत के युवा पीढ़ी के लिए स्वामी विवेकानन्द का अवदान कहें, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वर्तमान और भविष्य के भारत के लिए स्वामीजी ने क्या चिन्तन किया और क्या दिशा-निर्देश दे गये – यह जानने के लिए शिक्षक, छात्र या वैज्ञानिक, तकनीकी विशेषज्ञ और विशेष रूप से राजनीतिज्ञ, जिनके हाथों में देश की बागडोर है – सभी वर्गों का यह परम आवश्यक कर्तव्य है कि वे स्वामी विवेकानन्द के बहुमुखी साहित्य का अधिक-से-अधिक अध्ययन करें और उसे समझकर राष्ट्र-जीवन में रूपायित करने की चेष्टा करें। यदि हम सचमुच ही अपने देश को उन्नत और समृद्ध देखना चाहते हैं, तो उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ यथाशीघ्र अपनाना होगा। आदि शंकराचार्य की भाँति ही वे आने वाली कई शताब्दियो के लिए युगाचार्य हैं। उनका चिन्तन किसी विशेष धर्म, जाति, देश, काल के दायरे में सीमित नहीं था। इसीलिए अपने अल्पकालीन जीवन के दौरान उन्होंने सभी जातियों, सभी वर्गों तथा सभी धर्म के अनुयायियों के बीच अपना असीम स्नेह वितरित किया।

देश के वैज्ञानिक विकास तथा भौतिक समृद्धि के लिये उनका मूलमंत्र था – **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत** – "उठो, जागो और लक्ष्य की प्राप्ति तक रुको नहीं।" सत्य ही विज्ञान और धर्म दोनों की आधारशिला है। आज यदि स्वामीजी किसी वैज्ञानिक से मिलते, तो शायद यही कहते – "महाशय, पहले आध्यात्मिक होने की चेष्टा करें, तभी अच्छे वैज्ञानिक हो सकेंगे।" विख्यात वैज्ञानिक आइंस्टीन ने कहा था – "धर्म के बिना विज्ञान अन्धा है और विज्ञान के अभाव में धर्म लँगड़ा है।" यदि हम भारतवासी आनेवाले दो दशकों में देश को विकसित देखना चाहते हैं, हमें धर्म तथा विज्ञान – दोनों का ही अध्ययन स्वामीजी के जीवन तथा साहित्य के आलोक में करना होगा।

❑❑❑

श्रीरामकृष्ण आश्रम, बागेरहाट (बंगलादेश)

१९२६ में बांगलादेश के बागेरहाट में स्थापित इस आश्रम की दो विशेषताएँ हैं। प्रथम, यह आश्रम अपने प्रारम्भ से ही रामकृष्ण संघ के मुख्यालय - बेलूड़ मठ से जुड़ा है। द्वितीय, इसके इतिहास में कई उत्थान-पतन आये। २००१ ई. में इसने अपना गौरवपूर्ण प्लैटिनम जुबली मनाया। जमींदार वंश के सुधीर नामक एक युवक प्रारम्भ से ही इस आश्रम से जुड़े थे। स्वामी विवेकानन्द के राष्ट्रवादी विचारों से प्रेरित होकर वे बेलूड़ मठ जाने लगे और वहाँ स्वामी प्रेमानन्द जी के सम्पर्क में आये। बाद में काशी में इन्हें स्वामी तुरीयानन्द जी का संग मिला। वहाँ से कलकत्ते लौटकर ये श्रीरामकृष्ण संघ में सम्मिलित हुए और स्वामी शिवानन्द जी से दीक्षा ली। संन्यास के बाद इनका नाम हुआ स्वामी ज्ञानात्मानन्द।

एक बार सुधीर महाराज के बागेरहाट आने पर वहाँ के प्रफुल्ल चन्द्र महाविद्यालय के तत्कालीन अध्यक्ष श्री कामाख्या चरण नाग और वहाँ के उच्च विद्यालय के प्रधानाचार्य यतीन्द्रनाथ बसु ने उनसे बागेरहाट-क्षेत्र में श्रीरामकृष्ण के नाम तथा उनके आदर्शों पर एक आश्रम स्थापित करने का आग्रह किया। इस प्रस्ताव को बेलूड़ मठ के संचालकों का अनुमोदन भी मिल गया। फिर १९२६ ई. में बागेरहाट उच्च विद्यालय के संचालकों द्वारा खरीदी गयी वर्तमान भूमि पर बेलूड़ मठ की एक शाखा के रूप में श्रीरामकृष्ण आश्रम की स्थापना हुई। स्वामी प्रेमानन्द जी इसके प्रथम अध्यक्ष हुये। एक झोपड़ी में श्री ठाकुर की स्थापना कर नित्य-पूजा आरम्भ हुई।

बाद में रामकृष्ण मठ-मिशन के संन्यासी-ब्रह्मचारियों और अनुरागी भक्तों के प्रयास से इस आश्रम का उत्तरोत्तर विकास हुआ। पर बीच में कुछ विषाद के दिन भी आये। मार्च १९७१ ई. में पूरे बंगलादेश में सशस्त्र स्वतंत्रता-आन्दोलन शुरू हो जाने पर, पाक-सेना द्वारा आसन्न आक्रमण की आशंका से आश्रम के तत्कालीन अध्यक्ष आश्रम छोड़ने को बाध्य हुए थे। वे मन्दिर के चित्रपट तथा आश्रम के कागजात लेकर निकल पड़े। उन्हें अज्ञात रूप से गाँव-गाँव घूमना पड़ा। इधर आतंकियों ने आश्रम-भवन पूर्णत: ध्वस्त कर दिया। कोई संवाद न पाकर बेलूड़ मठ ने मान लिया कि आश्रम के अध्यक्ष अब जीवित नहीं हैं। उधर वे लम्बा मार्ग चलकर, एक संगी-छात्र के साथ किसी तरह से १९७१ की जुलाई में बेलूड़ मठ पहुँचे। कुछ माह बाद कालरात्रि का अवसान हुआ। १६ दिसम्बर, १९७१ को बंगलादेश स्वतंत्र घोषित हुआ। युद्ध में विनष्ट इस क्षेत्र के गरीब लोगों की सेवा के लिये रामकृष्ण मिशन ने ४ मार्च १९७२ को अपने सेवाकर्मी भेजे और इस अंचल में एक व्यापक सेवायज्ञ आरम्भ हुआ। भोजन, वस्त्र और आवास के साथ ही शिक्षा-प्रसार का कार्य भी शुरू हुआ। फिर बंगलादेश सरकार ने स्थानीय जनता व बेलूड़ मठ की आर्थिक सहायता से ध्वस्त आश्रम का जीर्णोद्वार करके उसे और भी सुन्दर बनाया तथा २६ दिसम्बर, १९७२ को श्रीमाँ सारदा देवी के पुण्य जन्मदिन पर आश्रम के पुराने मन्दिर में श्री ठाकुर की पुन:प्रतिष्ठा के साथ नये आश्रम का शुभारम्भ हुआ। २९ मार्च, २००१ को प्लैटिनम जुबली के प्रमुख अग के रूप में मठ व मिशन के वरिष्ठ उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गहनानन्द जी ने नवनिर्मित सुन्दर मन्दिर का उद्घाटन किया। दो दिन पूर्व महासचिव स्वामी स्मरणानन्द जी ने 'प्रेमानन्द भवन' का उद्घाटन किया था।

इस आश्रम में श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ तथा स्वामीजी की नित्य-पूजा के सिवा प्रतिवर्ष जगद्धात्री-पूजा और सरस्वती-पूजा का भी भव्य आयोजन होता है। हर सप्ताह नियमित रूप से धार्मिक कक्षाएँ चलती हैं। ग्रन्थालय में ४,००० से अधिक पुस्तकें हैं। एलोपैथिक तथा होम्योपैथिक दातव्य चिकित्सालयों में प्रति वर्ष लगभग ४०,००० रोगियों का इलाज होता है और छात्रवास में औसतन ५० छात्र रहते हैं। फिर आश्रम में एक गोशाला तथा सरोवर भी हैं। निर्माणाधीन शाखा-केन्द्रों के रूप में पाँजाखोला और खेजूरिया के आश्रम उल्लेखनीय हैं। प्लैटिनम-जुबली-वर्ष में आश्रम से ४१८ पृष्ठों की एक सुन्दर स्मारिका प्रकाशित हुई, जो बगलादेश के हिन्दू तथा मुस्लिम सम्प्रदाय के लोगों में विशेष समादृत हुई है। ❑❑❑

रामकृष्ण मिशन द्वारा बिहार, आसाम तथा पश्चिम बंगाल में राहत-कार्य

सूचना और प्रतिवेदन

हाल ही में बिहार, आसाम तथा पश्चिम बंगाल में आये विध्वंसक बाढ़ द्वारा प्रभावित लोगों के बीच निम्नलिखित जिलों में रामकृष्ण मिशन पकाया हुआ भोजन एवं खाद्य-सामग्री वितरित कर रहा है। साथ ही चिकित्सा राहत कार्य भी किया जा रहा है।

बिहार - समस्तीपुर, मुजफ्फरपुर, वैशाली एवं कटिहार

आसाम - सिलचर शहर, मोनिगाँव, करीमगंज एवं कामरूप

पश्चिम बंगाल - कूचबिहार

नकद राशि अथवा रामकृष्ण मिशन नामांकित चेक/ड्राफ्ट आयकर अधिनियम ८०-जी के तहत आयकर से मुक्त है।

३०, जुलाई २००४ — *स्वामी स्मरणानन्द*

बेलूड़ मठ, हावड़ा - ७११२०२ — महासचिव

रामकृष्ण मठ
पो. बेलूड़ मठ, जिला - हावड़ा
पश्चिम बंगाल - ७११२०२

एक निवेदन

मित्रो,

१८८६ ई. के १६ अगस्त को भगवान श्रीरामकृष्ण देव के स्थूल शरीर त्यागने के बाद नरेन्द्रनाथ (बाद में स्वामी विवेकानन्द) के नेतृत्व में उनके युवक शिष्यगण कलकत्ते के वराहनगर अंचल में गगा-तट पर एक जीर्ण-शीर्ण भवन में एकत्र हुए। श्रीरामकृष्ण देव के एक गृही शिष्य सुरेन्द्रनाथ मित्र ने नरेन्द्रनाथ से कहा था – ''भाई, तुम लोग अन्यत्र कहाँ जाओगे, एक मकान लेकर रहो। वहाँ तुम लोग भी रहोगे और हम लोगों को भी तो शान्ति प्राप्त करने का एक स्थान चाहिए। वैसा नहीं होने से हम लोग रात-दिन किस प्रकार रहेंगे ?'' इस प्रकार श्रीरामकृष्ण देव के महाप्रयाण के कुछ महीनों बाद ही 'रामकृष्ण मठ' का शुभारम्भ हुआ। कुछ दिनों बाद इन युवा शिष्यों ने नवीन सन्यास-नाम ग्रहण करके सन्यास-जीवन में प्रवेश किया।

परवर्तीकाल में यह रामकृष्ण मठ आलमबजार में और वहाँ से गगा के दूसरे तट पर बेलूड़ ग्राम के नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान में स्थानान्तरित हुआ। अन्त में, १८९८ ई. में यह बेलूड़ के वर्तमान भूखण्ड पर स्थापित हुआ।

वराहनगर में जिस स्थान पर संघ का प्रथम मठ स्थापित हुआ था, वह स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण तीर्थ-स्थान है। यद्यपि अब वहाँ वास्तविक भवन नहीं है, तथापि उसी जगह पर कुछ स्थान का अधिग्रहण कर रामकृष्ण मठ का एक शाखा-केन्द्र का आरम्भ किया गया है। मठ की मूल भूमि पर बाद में कुछ भवनों का निर्माण हुआ था। एक पवित्र परवेश से युक्त रामकृष्ण मठ के शाखा-केन्द्र के रूप में विकसित करने के लिए इन पूर्व-निर्मित गृहों का अधिग्रहण करना तथा खाली कराना आवश्यक है। यह परियोजना काफी व्यय-साध्य है।

श्रीरामकृष्ण-भावान्दोलन में इसके महत्त्व से अवगत भक्तों और अनुरागियों के स्वतःस्फूर्त हार्दिक दान के द्वारा ही इस परियोजना को आरम्भ तथा पूरा कर पाना सम्भव हो सकता है।

हम आप लोगों से इस पवित्र परियोजना को रूपायित करने के लिये यथाशक्ति सहयोग और आर्थिक दान के लिये अनुरोध करते हैं। रामकृष्ण मठ को दान के रूप में दी गई कोई भी धनराशि भारतीय आयकर-संहिता की धारा ८०-जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त है। आर्थिक दान चेक या बैंक ड्राफ्ट के माध्यम से 'रामकृष्ण मठ, वराहनगर' के नाम से बनवायें और - 'रामकृष्ण मठ, १२५/१ प्रामाणिक घाट रोड, वराहनगर, कलकत्ता - ७०० ०३६' के पते पर भेजें।

धन्यवाद सह

भवदीय

बेलूड़ मठ
१५ जून, २००४,

स्वामी स्मरणानन्द
महासचिव